तृतीय अध्याय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तृतीय अध्याय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तृतीय अध्याय

श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरमत की चर्चा

प्रथम प्रकरण

अचेलत्व के दिगम्बरमान्य स्वरूप का वर्णन

पूर्व अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि दिगम्बरजैनमत की स्थापना न तो बोटिक शिवभूति जैसे साधारण पुरुष ने ई० सन् ८२ में की थी, न ही आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में। वह ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत है। इसकी पुष्टि श्वेताम्बरसाहित्य में उपलब्ध उल्लेखों से भी होती है। प्रस्तुत अध्याय में उन्हीं का निरूपण किया जा रहा है।

१

श्वेताम्बरसाहित्य में अचेलपरम्परा की स्मृतियों के अवशेष

जैसा कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय के नाम से ही स्पष्ट है, उसका जन्म सचेलमुक्ति की मान्यता को लेकर हुआ था। फिर भी श्वेताम्बर-ग्रन्थों में तीर्थंकरों को नग्नमुद्राधारी माना गया है, जिनकल्पिक नाम से साधुओं के एक वर्ग भी नाग्न्यलिंगधारी स्वीकार किया गया है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक तथा शेष बाईस तीर्थंकरों को सचेलधर्म के साथ अचेलधर्म का उपदेष्टा बतलाया गया है, आचारांग और स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, **कल्पनिर्युक्ति** में साधु के दस कल्पों (आचारों) में आचेलक्य को प्रथम कल्प प्ररूपित किया गया है और **तत्त्वार्थसूत्र** के श्वेताम्बरीय पाठ (९/९) में मुनियों को नाग्न्यपरीषह होने की संभावना से इनकार न कर उनको नग्नवेशधारी भी स्वीकार किया गया है। भले ही आगे चलकर जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जिनकल्प का व्युच्छेद बतलाकर अचेलक-धर्म को विलुप्त घोषित कर दिया गया और तीर्थंकर ऋषभदेव एवं महावीर के द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म को सचेलधर्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। श्वेताम्बराचार्य चाहते तो आरंभ में ही अपने सम्प्रदाय के शास्त्रों में नग्नत्व और अचेलत्व का नाम भी न आने देते, सभी तीर्थंकरों और मुनियों को वस्त्रधारी ही दर्शाते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया और अपने ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव और महावीर द्वारा केवल अचेलकधर्म का उपदेश दिये जाने का उल्लेख किया और उनकी परम्परा में मुनियों के नाग्न्यलिंगधारी

होने की बात स्वीकार की। इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बराचार्यों को अचेलकपरम्परा अर्थात् दिगम्बरपरम्परा (जो पहले निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध थी) की मौलिकता एवं प्राचीनता का बोध था। वे उसका अपलाप नहीं करना चाहते थे।

आगे चलकर उन्होंने जैसे अचेलकधर्म (जिनकल्प) का विच्छेद घोषित कर प्रवर्तमान दिगम्बरजैनपरम्परा को तीर्थंकर-अप्रणीत, निह्नवमत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वैसे ही **अचेलक** शब्द को **सचेल** का वाचक सिद्ध करने का प्रयास करके भी अचेलपरम्परा का अभाव साबित करने की चेष्टा की है। इन दोनों सकारात्मक और नकारात्मक प्रवृत्तियों का आश्रय बनाकर मान्य श्वेताम्बराचार्यों ने स्वयं ही इस अचेलकपरम्परा अर्थात् दिगम्बरजैनपरम्परा की मौलिकता एवं पूर्ववर्तिता का परिचय दे दिया है।

२

सभी तीर्थंकरों के दिगम्बरमुद्रा से मोक्ष होने का कथन

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि चौबीसों तीर्थंकर एकवस्त्र में ही प्रव्रजित हुए थे, न तो अन्यलिंग से प्रव्रजित हुए, न गृहस्थलिंग से, न कुलिंग से—

सव्वेऽवि एगदूसेण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं।
न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा॥ २२७॥

श्री **जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण** लिखते हैं—"सभी जिन वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारी होते हैं, चार ज्ञान और अतिशयसत्त्व से सम्पन्न होते हैं, उनके हस्तपुट छिद्ररहित होते हैं, वे परीषहों के विजेता होते हैं, अतः वस्त्रपात्रादि उपकरणों से रहित होने पर भी उनके अभाव में जो दोष बतलाये गये हैं, वे उन्हें नहीं लगते। उनके लिए वस्त्रपात्र संयम के साधन नहीं हैं, इसलिए वे उन्हें ग्रहण नहीं करते। तथापि तीर्थ (मोक्षमार्ग) सवस्त्र ही है, तीर्थ में चिरकाल तक साधु सवस्त्र ही होंगे, यह उपदेश देने के लिए सभी तीर्थंकर एक वस्त्र लेकर अभिनिष्क्रमण करते हैं और उस वस्त्र के कहीं गिर जाने पर निर्वस्त्र हो जाते हैं, सदा निर्वस्त्र नहीं रहते।"[१]

---

१. निरुपमधिइसंघयणा चउनाणाइसयसत्तसंपण्णा।
अच्छिद्दपाणिपत्ता जिणा जियपरिसहा सव्वे॥ २५८१॥ विशेषावश्यकभाष्य।
तम्हा जहुत्तदोसे पावंति न वत्थ-पत्तरहिया वि।
तदसाहणं ति तेसिं तो तग्गहणं न कुव्वंति॥ २५८२॥
तहवि गहिएगवत्था सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति।
अभिनिक्खमंति सव्वे तम्मि चुएऽचेलया हुंति॥ २५८३॥ विशेषावश्यकभाष्य।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यह कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि चौबीसों तीर्थंकर अन्त में नग्न हो गये थे और नग्नतारूप पूर्ण अपरिग्रह की अवस्था में की गई साधना से ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था। तीर्थंकर महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के बाद जो देवदूष्य धारण किया था, वह तेरह मास बाद शरीर से च्युत हो गया था। तत्पश्चात् वे दस वर्ष और ग्यारह मास तक मुनि (छद्मस्थ) अवस्था में तथा तीस वर्ष तक तीर्थंकर अवस्था में नग्न ही विहार करते रहे। इस प्रकार उन्हें केवलज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति दिगम्बरलिंग से ही हुई थी। दिगम्बरमत यही मानता है कि तीर्थंकर-सहित सभी जीव एकमात्र दिगम्बरमुद्रा से ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। श्वेताम्बरसाहित्य में इस दिगम्बरमान्यता का उल्लेख होने से दिगम्बरमत की प्राचीनता प्रकट होती है। इससे यह तथ्य भी सामने आता है कि तीर्थंकर मल्लिनाथ ने भी नग्न अवस्था धारण की थी, अतः वे स्त्री नहीं थे, क्योंकि स्त्री को नग्न होने की आज्ञा न तो दिगम्बरसम्प्रदाय में है, न श्वेताम्बरसम्प्रदाय में जैसा कि श्वेताम्बरीय **बृहत्कल्पसूत्र** में कहा गया है—"**नो कप्पई निग्गंथीए अचेलियाए हुंतए।**" (५/१६)।

३
एकवस्त्रसहित प्रव्रज्या की कथा वस्तुतः चेलोपसर्ग

किन्तु आचारांगादि में जो यह कहा गया है कि सभी तीर्थंकर एकवस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे, उसे **अपराजितसूरि** प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कथन है कि सभी तीर्थंकर सर्वथा वस्त्ररहित होकर ही प्रव्रजित हुए थे। **भगवती-आराधना** की टीका में वे लिखते हैं—

"और जो **भावना** (**आचारांग** का २४वाँ अध्ययन) में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद वे अचेलक हो गये, सो इसमें बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हैं, अर्थात् बहुत से विरोध और मतभेद हैं। क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि उस वस्त्र को, जो वीरजिन के शरीर पर लटका दिया गया था, लटका देनेवाले मनुष्य ने ही उसी दिन ले लिया था। दूसरे कहते हैं कि वह काँटों और डालियों आदि से उलझते-उलझते छह महीने में छिन्न-भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक समय बीत जाने पर **खंडलक** नामक ब्राह्मण ने उसे ले लिया था और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवा से उड़ गया और भगवान् ने उसकी उपेक्षा की, तो लटकानेवाले ने फिर उनके कन्धे पर लटका दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होने के कारण इस बात में कोई तत्त्व नहीं दिखलाई देता। यदि सचेललिंग प्रकट करने के लिए भगवान् ने वस्त्रग्रहण किया था, तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे सदा ही धारण किये रहना था।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायेगा तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि पता नहीं था, तो वे अज्ञानी सिद्ध हुए। और फिर यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वांछनीय थी, तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायेगा कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म आचेलक्य (निर्वस्त्रता) था।[२]

"और जो यह कहा गया है कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ, उसी तरह पिछले जिन (तीर्थंकर) भी अचेलक होंगे, सो इससे भी विरोध आयेगा। इसके सिवाय वीर भगवान् के समान यदि अन्य तीर्थंकरों ने भी वस्त्र ग्रहण किया था, तो उनका वस्त्रत्यागकाल क्यों नहीं बतलाया गया है? इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्याग कर जब जिन (वीर भगवान्) स्थित थे तब किसी ने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरह का उपसर्ग था।"[३]

२.क—"यच्च भावनायामुक्तं—'वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणो' त्ति तदयुक्तं विप्रतिपत्ति-बहुलत्वात्। कथम्? केचिद्वदन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति'। अन्ये 'षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति'। 'साधिकेन वर्षेण तद् वस्त्रं खण्डलकब्राह्मणेन गृहीतमिति' केचित् कथयन्ति। केचिद् वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति। अपरे वदन्ति 'विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति'। एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वम्। सचेललिङ्गप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य, कथं तद्विनाश इष्टः? सदा तद् धारयितव्यम्। किं च यदि नश्यतीति ज्ञातं, निरर्थकं तस्य ग्रहणम् यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् "आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं" इति वचो मिथ्या भवेत्।" विजयोदयाटीका / भ.आ./ गा.'आचेलक्कुद्देसिय' ४२३ / पृ. ३२५-२६। हिन्दी अनुवाद : पं० नाथूराम जी प्रेमी / जैनसाहित्य और इतिहास / प्र.सं./पृ. ४९-५०।

ख—उपर्युक्त विजयोदयाटीका की प्रथम पंक्ति में **तदुक्तं** मुद्रित, है, जो अशुद्ध है। टीकाकार के अभिप्रायानुसार **तदयुक्तं** (तद् अयुक्तं = वह कथन अनुचित है) होना चाहिये, क्योंकि उन्होंने आचारांग के 'भावना' नामक अध्ययन के इस वचन को अयुक्त बतलाया है कि 'भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक चीवर धारण किया, पश्चात् अचेलक हो गये' और अयुक्त होने का कारण यह बतलाया है कि इस विषय में विप्रतिपत्ति की बहुलता (लोगों के मतों में भिन्नता) है। इसीलिए उन्होंने मतवैभिन्न्य का उल्लेख करने के बाद अपना युक्तिसंगत निर्णय देते हुए लिखा है कि "एवं तु युक्तं वक्तुं—सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिदंसे वस्त्रं निक्षिप्तम्, उपसर्गः स इति।" अर्थात् यह कहना युक्त है कि भगवान् जब वस्त्रादिसकल परिग्रह का त्याग करके स्थित थे, तब किसी ने उनके कन्धे पर वस्त्र डाल दिया, जो एक उपसर्ग था। (भ.आ. / गा.४२३ / पृ. ३२६)।

३. "यदुक्तं 'यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति' तेनापि विरोधः। किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तात्पर्य यह कि अपराजितसूरि के अनुसार भगवान् महावीर सर्वथा अचेल अवस्था में ही प्रव्रजित हुए थे, उन्होंने मोक्षमार्ग के सवस्त्र होने का उपदेश देने के लिए देवदूष्य नाम का वस्त्र ग्रहण नहीं किया था। यदि किसी ने उनके कन्धे पर कोई वस्त्र डाल दिया था, तो उसे उपसर्ग माना जायेगा।

४

तीर्थंकरों के सर्वथा अचेल होने का कथन

श्वेताम्बरमत में आगे चलकर **अचेल** शब्द को मुख्यार्थ के अतिरिक्त औपचारिक अर्थ में भी प्रयुक्त मान लिया गया। यह बतलाया जाने लगा कि तीर्थंकरों के साथ 'अचेल' शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ में अर्थात् 'सर्वथा वस्त्ररहित' अर्थ में हुआ है और शेष मुनियों के साथ औपचारिक अर्थ में अर्थात् 'अल्पवस्त्रसहित' अथवा 'कुत्सितवस्त्रसहित' अर्थ में व्यवहृत हुआ है। **बृहत्कल्पसूत्र** के **लघुभाष्य** में श्री संघदास गणी (६-७वीं शती ई०) का वक्तव्य है-

दुविहो होंति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगरा असंतचेला, संताचेला भवे सेसा॥ ६३६५॥

अनुवाद-"अचेल दो प्रकार के होते हैं : सद्-अचेल (वस्त्र-सहित अचेल) तथा असद्-अचेल (वस्त्ररहित अचेल)। तीर्थंकर वस्त्ररहित अचेल हैं, शेष साधु वस्त्रसहित अचेल।"

सर्वप्रथम विशेषावश्यकभाष्य में इन दो प्रकार के अचेलों का वर्णन मिलता है। उसकी वृत्ति में इनका प्ररूपण इस प्रकार किया गया है—

"**सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेला भण्यन्ते, जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्याऽचेला व्यपदिश्यन्ते।**" (हेम.वृत्ति./विशे.भा./गा.२५९८)।

अनुवाद—"सामान्य साधु वस्त्र धारण करते हुए भी उपचार से अचेल कहे जाते हैं, और जिन (तीर्थंकर) वस्त्र धारण न करने के कारण मुख्यरूप से अचेल कहलाते हैं।"

उपचार का अर्थ है किसी वस्तु पर अन्य वस्तु का धर्म आरोपित करना।[४] अर्थात् वस्तु में जो धर्म वास्तव में नहीं है उसे उस वस्तु में बतलाना। जैसे 'यह बालक

एवं तु युक्तं वक्तुं 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिदंसे वस्त्रं निक्षिप्तम्। उपसर्गः स इति।" विजयोदया टी./भ.आ./गा. 'आचेलक्कुद्देसिय' ४२३/पृ. ३२६ हिन्दी अनुवाद : पं० नाथूराम जी प्रेमी/जै.सा.इ./प्र.सं./पृ.५०।

४. "अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।" आलापपद्धति। सूत्र २०७-२०८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सिंह है' ऐसा कथन कर बालक में जो सिंहत्व वास्तव में नहीं है उसे बालक में बतलाना उपचार है।

यहाँ 'अचेल' शब्द के उपचार से भी प्रयुक्त होने की जो कल्पना की गयी है उसकी अयुक्तिमत्ता का निरूपण आगे किया जायेगा। यहाँ केवल इस बात पर ध्यान देना है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में सभी तीर्थंकरों को अन्ततः सर्वथा नग्न अर्थात् दिगम्बर स्वीकार किया गया है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि दिगम्बरधर्म स्वयं तीर्थंकरों द्वारा आचरित था, इसलिए वह मौलिक धर्म है।

५
आदि-अन्तिम तीर्थंकरों द्वारा अचेलकधर्म का उपदेश

उत्तराध्ययनसूत्र के केशी-गौतम संवाद में बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलक (दिगम्बर) धर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेलधर्म का—

अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो।
देसिदो वद्धमाणेण पासेण य महाजसा॥ २३/२९॥

चूँकि इस गाथा में भगवान् महावीर को अचेलकधर्म का उपदेशक कहा गया है, इससे श्री जिनभद्रगणी का यह कथन असत्य सिद्ध हो जाता है कि सभी तीर्थंकरों ने सवस्त्र तीर्थ का उपदेश दिया था और इसी के लिए वे एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे।

वस्तुतः श्वेताम्बरपरम्परा में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर इन दो को अचेलकधर्म का उपदेष्टा और मध्य के बाईस तीर्थंकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेशक माना गया है। यद्यपि उत्तराध्ययन- सूत्र में प्रसंग न होने के कारण अचेलकधर्म के उपदेशक के रूप में ऋषभदेव का उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के अचेलकधर्म-प्रणेता होने की श्वेताम्बरीय मान्यता उत्तराध्ययनसूत्र के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है। उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर को अचेलकधर्म का तथा पार्श्वनाथ को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेष्टा बतलाया जाना इसी परम्परागत श्वेताम्बरीय मान्यता पर आधारित है। इसी के आधार पर भाष्यकार श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण (६-७ वीं शती ई०) ने **बृहत्कल्प-लघुभाष्य** में निम्नलिखित गाथा (६३६९) रचकर तथा श्री हरिभद्रसूरि (८वीं शती ई०) ने **पञ्चाशक** (गा.१२) में इसे आत्मसात् कर पुरिम (प्रथम) और पच्छिम (अन्तिम) तीर्थंकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक तथा मध्य के बाईस तीर्थंकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेष्टा बतलाया है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होति अचेलो सचेलो वा॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर इन दोनों तीर्थंकरों के अनुयायी मुनि दिगम्बर ही होते थे, अतः दिगम्बरपरम्परा भगवान् ऋषभदेव के युग से चली आ रही है।

प्रथम और चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में साधुओं के लिए जो दश प्रकार का कल्प (आचार)[५] निर्धारित किया गया है, वह **कल्पनिर्युक्ति** में इस प्रकार है—

आचेलक्कुद्देसिय सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे।
वय-जेट्ठ-पडिक्कमणे मासं पज्जोवसवणकप्पो॥

अनुवाद—"१.आचेलक्य (नग्नत्व), २.उद्दिष्ट आहार का त्याग, ३.वसतिदाता के आहार का त्याग ४.राजपिण्ड (राजस आहार या राजा के घर के आहार) का त्याग, ५.कृतिकर्म, ६.महाव्रत, ७.पुरुष की ज्येष्ठता (साध्वी की वन्दना न करना) ८.प्रतिक्रमण, ९.एक स्थान पर अधिक से अधिक एक मास तक रहना और १०. वर्षाकाल में चार मास तक एक ही स्थान में रहना।"

साधुओं के इन दस प्रकार के आचारों में आचेलक्य सबसे पहला आचार बतलाया गया है, और यद्यपि अपरिग्रह महाव्रत में आचेलक्य आ जाता है, तथापि अलग से उल्लेख कर इसके महत्त्व का बोध कराया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधुओं के लिए दिगम्बरत्व का विधान भगवान् ऋषभदेव के समय से ही चला आ रहा है।

साधुओं के दस कल्पों (आचारों) का प्ररूपण करनेवाली उपर्युक्त '**आचेलक्कुद्देसिय**' इत्यादि गाथा प्रथम शताब्दी ई० के दिगम्बरग्रन्थ **भगवती-आराधना** में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बरपरम्परा में भी यह गाथा तीर्थंकर महावीर की अनुगामिनी मूल (अविभक्त) निर्ग्रन्थपरम्परा से ही आयी है, किन्तु श्वेताम्बरसाहित्य में इसका सर्वप्रथम उल्लेख छठी शताब्दी ई० की **कल्पनिर्युक्ति** में हुआ है। वहीं से यह छठी-सातवीं शती ई० के भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमणकृत **जीतकल्पभाष्य** में (गा.१९७२) तथा इसी समय के एक अन्य प्रमुख भाष्यकार श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण द्वारा रचित **बृहत्कल्प-लघुभाष्य** (गा.६३६४) में आत्मसात् की गयी है। भाष्यों का रचनाकाल छठी-सातवीं शताब्दी ई० माना गया है। डॉ० मोहनलाल जी मेहता लिखते हैं कि श्री संघदासगणी श्री जिनभद्रगणी से पूर्ववर्ती हैं। (जै.सा.बृ.इ./भा. ३/पृ. १४, १९)। किन्तु, श्री देवेन्द्र

५. 'कल्पः साधूनामाचारः।' कल्पकौमुदीटीका / कल्पसूत्र / पृ.२।

मुनि शास्त्री का कथन है कि "भाष्यकार संघदासगणी, जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण से पहले हुए हैं या बाद में हुए हैं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता---।" (जै. आ. सा. म. मी./पृ. ४७३)।

६

आचारांगादि में अचेल का अर्थ अल्पचेल नहीं

बृहत्कल्प-लघुभाष्य एवं **पञ्चाशक** के अनुसार अजितादि बाईस तीर्थंकरों ने अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेश दिया था, इसलिए वस्त्रधारी साधुओं की सवस्त्रता का औचित्य उनके अनुसार तो सिद्ध हो जाता है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव एवं महावीर ने केवल अचेलधर्म का उपदेश दिया था, इसलिए उनके अनुसार साधुओं के सचेलधर्म (स्थविरकल्प) के आचरण का औचित्य सिद्ध नहीं होता। अतः भगवान् महावीर के अनुसार भी सचेलधर्म (स्थविरकल्प) के आचरण का औचित्य सिद्ध करने के लिए परवर्ती ग्रन्थकारों एवं व्याख्याकारों ने अद्भुत रास्ता निकाला। उन्होंने 'अचेल' शब्द के निषेधार्थक 'अ' (नञ्) को अल्पार्थक मानकर 'अचेल' का अर्थ **अल्पचेल** घोषित कर दिया।[६] इस प्रकार सचेल को भी वे अचेल की परिभाषा में ले आये और भगवान् महावीर को सचेलधर्म का उपदेष्टा सिद्ध कर दिया।

किन्तु आचारांगादि आगमों में अल्पचेल को 'अचेल' संज्ञा नहीं दी गयी है। यद्यपि आचारांग में शीतादि की बाधा सहने में असमर्थ साधकों के लिए अधिक से अधिक तीन वस्त्र धारण करने का विधान है, तथापि उनमें से तीन या दो वस्त्रधारियों की तो बात ही दूर, एकवस्त्रधारी को भी 'अचेल' शब्द से अभिहित नहीं किया गया है, सर्वथा वस्त्ररहित को ही अचेल कहा गया है। उदाहरणार्थ—

"अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ।"[७]

अनुवाद—"जब मुनि यह जान ले कि हेमन्तऋतु चली गई है और ग्रीष्मऋतु आ गयी है, तब जो वस्त्र धारण किये थे उनका त्याग कर दे अथवा शीत की आशंका हो, तो त्याग न करे और जब आवश्यकता हो तभी उपयोग में लावे, अन्यथा पास

---

६. "अल्पार्थे नञ् यथाऽयं पुमानज्ञः स्वल्पज्ञान इत्यर्थः, यः साधुर्नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः, अल्पचेल इत्यर्थः। --- यदि वा जिनकल्पिकाभिप्रायेणैवैतत्सूत्रं व्याख्येयं, तद्यथा—'जे अचेले' इत्यादि, नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः।" शीलांकाचार्यवृत्ति/आचारांग/१/६/३/१८२।

७. आचारांग/१/७/४/२०९-२१०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में रखे रहे (**सान्तरमुत्तरं**)। अथवा तीन वस्त्र हों तो एक का त्याग कर **अवमचेल** (द्विवस्त्रधारी) हो जाय, अथवा शीत में और कमी हो रही हो, तो दूसरे वस्त्र को भी छोड़कर **एकशाटक** (एकवस्त्रधारी, एकचेलक) बन जाय, अथवा शीत बिलकुल समाप्त हो गयी हो, तो उस एकशाटक का भी त्याग कर दे और अचेल हो जाय। इस तरह अचेल होकर वह अपने को भारमुक्त (लाघविक) कर लेता है और उससे तप की आराधना होती है।''[८]

यहाँ साधु के पास यदि तीनवस्त्र हों, तो उनमें से एक कम कर देने पर उसे **अवमचेल** कहा गया है, दो कम कर देने पर **एकशाटक** (एकचेलक)[९] तथा सर्वथा वस्त्ररहित हो जाने पर **अचेल** संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार—

''जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्य णं भिक्खुस्स एवं भवइ-चाएमि अहं तण-फासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहियासित्तए दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहिआसित्तए , एवं से कप्पेइ कडिबंधणं धारित्तए। अदुवा तत्थ परावक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ति सीयफासा फुसन्ति तेउफासा फुसन्ति दंसमसगफासा फुसन्ति एग-यरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिज्जाणिया।'' (आचारांग/१/७/७/२२०-२२१)।

अनुवाद—''जो साधु वस्त्ररहित होकर संयम के मार्ग में व्यवस्थित है, उसके मन में यदि ऐसा विचार आता है कि मैं तृणजनित वेदना सह सकता हूँ, शीत की वेदना सह सकता हूँ, उष्णता की वेदना सह सकता हूँ, डाँस-मच्छर की वेदना सहन कर सकता हूँ, और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल दुःखों को सहन कर सकता हूँ, परन्तु लज्जा के कारण गुह्य प्रदेश के आच्छादन का त्याग करने में समर्थ नहीं हूँ, तो उस साधु को कटिबन्धन (कटिवस्त्र=चोलपट्टक) धारण करना उचित है। (यदि उक्त कारण न हो, तो अचेल ही रहना चाहिए)। जो अचेल विचरण करता है, उसे तृणस्पर्श-परीषह पीड़ित करता है, शीतपरीषह त्रास देता है, उष्णपरीषह सन्ताप देता है, डाँस-मच्छर पीड़ा पहुँचाते हैं और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आते

८. ''अथवा--- वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् , सान्तरमुत्तरं प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति, क्वचित् पार्श्ववर्त्ति बिभर्ति, शीताशङ्क्या नाद्यापि परित्यजति। अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः, अथवा शनैःशनैः शीतेऽप-गच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत एकशाटकः संवृत्तः। अथवात्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति।--- वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्।'' शीलांकाचार्यवृत्ति / आचारांग / १ / ७ / ४/२०९-२१०।

९. ''अचेलोऽप्येकचेलकादिकं नावमन्यते।'' वही/१/६/३/१८२।

हैं, उन्हें वह भलीभाँति सहन करता है। इस प्रकार अचेल मुनि उपकरणों और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है।''[१०]

यहाँ अचेल साधु को लज्जाविजय में असमर्थ होने पर एक **चोलपट्टक** (लँगोट) धारण करने की अनुमति दी गयी है और कहा गया है कि लज्जा को जीतने में समर्थ हो, तो अचेल ही विचरण करे, क्योंकि इससे परीषहजय का अवसर मिलता है, जो साधु को कर्मभार से मुक्त होने में सहायक होता है। इससे स्पष्ट है कि जब चोलपट्टक भी शरीर पर न हो, तब साधु अचेल कहलाता है। चोलपट्टक धारण कर लेने पर सचेल हो जाता है।

इस प्रकार आचारांग में सर्वथा वस्त्ररहित साधु को ही 'अचेल' कहा गया है, अल्पवस्त्रवाले को नहीं। एकमात्र चोलपट्टकवाले मुनि को भी सचेल ही कहा गया है।

दिगम्बरग्रन्थ **भगवती-आराधना** की विजयोदया टीका में आचार्य अपराजित सूरि ने श्वेताम्बर-आगम **उत्तराध्ययनसूत्र** की निम्नलिखित गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो वर्तमान उत्तराध्ययन में उपलब्ध नहीं होतीं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरो भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥

सचेलगो सुखी भवदि असुखो चावि अचेलगो।
अहं तु सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए॥[११]

अनुवाद—''साधु को वस्त्र त्याग कर पुनः ग्रहण नहीं करना चाहिए, **अचेल रहकर सदा जिनरूपधारी रहना चाहिए**। उसे यह विचार मन में नहीं लाना

१०.क—''किन्त्वहं ह्री लज्जा तया गुह्यप्रदेशस्य प्रच्छादनं ह्रीप्रच्छादनं, तच्चाहं त्यक्तुं न शक्नोमि। एतच्च प्रकृतिलज्जालुकतया साधनविकृतरूपतया वा स्यात्। एवमेभिः कारणैः --- तस्य कल्पते युज्यते 'कटिबन्धनं' चोलपट्टकं कर्तुं, स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको हस्तो दैर्घ्येण कटिप्रमाण इति, गणनाप्रमाणेनैकः। पुनरेतानि कारणनि न स्युः ततोऽचेल एव पराक्रमेत। अचेलतया शीतादिस्पर्शं सम्यगधिसहेतेति। --- स एवं कारणसद्भावे सति वस्त्रं विभृयादथवा नैवासौ जिह्रेति ततोऽचेल एव पराकमेत।'' शीलांकाचार्यवृत्ति / आचारांग / १/७/७/२२०-२२१।

ख—हिन्दी अनुवाद : मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज / आचारांगसूत्र / प्रथम श्रुतस्कन्ध / पृ. ५५९।

११.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पृ.५२६ तथा जैन साहित्य और इतिहास-प्रेमी / प्र.सं. / पृ. ५१ पर उद्धृत।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चाहिए कि वस्त्रधारी सुखी रहता है और वस्त्रत्यागी दुःखी, इसलिए मैं वस्त्रधारण करूँगा।''

यहाँ भी जिनरूपधर (दिगम्बरवेशधारी) को ही अचेल कहा गया है। निष्कर्ष यह कि आचारांगादि आगमों में 'अचेल' शब्द का प्रयोग 'अल्पचेल' अर्थ में कहीं भी नहीं किया गया है, सर्वत्र 'सर्वथा वस्त्ररहित' अर्थ में ही किया गया है। 'अचेल' शब्द पर 'अल्पचेल' अर्थ आरोपित करने का श्रेय व्याख्याकारों को है। अतः सिद्ध है कि श्वेताम्बर-आगमों के अनुसार भी भगवान् ऋषभदेव और महावीर ने जिनरूप (दिगम्बरवेश) धारण करने का ही उपदेश दिया था, सचेलरूप धारण करने का नहीं, इसलिए दिगम्बरपरम्परा भगवान् ऋषभदेव-जितनी प्राचीन है।

७

आचारांग-स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का वर्णन

आचारांग में अचेलकधर्म या दिगम्बरलिंग के अनेक गुण बतलाये गये हैं। यथा, उससे आर्त्तध्यान के एक बड़े कारण की निवृत्ति हो जाती है, परीषह सहने का अवसर मिलता है, तथा तप संभव होता है। निम्नलिखित सूत्र द्रष्टव्य है—

''एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्य णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ–परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि। अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं।''(आचारांग /१/६/३/१८२)।

अनुवाद—''धर्म को अच्छी तरह जाननेवाला और आचार का पालन करनेवाला जो मुनि कर्मबन्ध के कारणभूत वस्त्रादि को छोड़कर अचेल (निर्वस्त्र) रहता है, उसे यह चिन्ता नहीं सताती कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, अब मुझे वस्त्र की याचना करनी है, वस्त्र सीने के लिये धागा माँगना है, सुई माँगनी है, फटे वस्त्र को सीलना है, छोटे वस्त्र को दूसरा वस्त्र जोड़कर बड़ा करना है, बड़े वस्त्र को छोटा करना है, उसे पहनूँ या ओढ़ूँ। अथवा वस्त्ररहित मुनि को भ्रमण करते हुए तृण चुभता है, ठंड लगती है, गर्मी लगती है, डाँस-मच्छर काटते हैं, तो ऐसे विविध परीषहों

को वह कर्मभार से हल्का होने का कारण मानकर सहन करता है। इससे तप होता है।''[१२]

सचेल होने पर साधु को जो ऊपर कही गयीं विभिन्न चिन्ताएँ होती हैं, उन्हें आर्त्तध्यान या अपध्यान कहते हैं।[१३] अचेल (सर्वथा नग्न) रहने पर वह आर्त्तध्यान नहीं होता तथा परीषहजय और तप सम्पन्न होते हैं। ये अचेलधर्म अर्थात् दिगम्बरलिंग के गुण हैं। आचारांग में इनका वर्णन कर दिगम्बरलिंग की प्रशंसा की गई है। इससे दिगम्बर-साधनापद्धति की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

स्थानांगसूत्र में भी पाँच कारणों से अचेलक धर्म की प्रशंसा की गई है। कहा गया है—''**पंचहि ठाणेहि अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा अप्पपडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे।**'' (स्था.सूत्र / ५/३ /३४७/ १५०) अर्थात् निम्नलिखित पाँच कारणों से अचेलक साधु प्रशस्त होता है—

१. अचेलक की प्रतिलेखना अल्प होती है।
२. अचेलक का लाघव प्रशस्त होता है।
३. अचेलकवेश विश्वास के योग्य होता है।
४. अचेलक का तप अनुज्ञात (जिन-अनुमत) होता है।
५. अचेलक के विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है।

श्वेताम्बरागमों में अचेलकल्प की यह प्रशंसा इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर-परम्परा श्वेताम्बरपरम्परा की उत्पत्ति के पूर्व से चली आ रही थी और वह प्रशस्त पद्धति है।

जस्टिस श्री एम० एल० जैन (२१५, मन्दाकिनी एन्क्लेव, अलकनंदा, दिल्ली—११० ०१९) ने भी '**श्वेताम्बर-आगम और दिगम्बरत्व**' नामक अपने लेख में आचारांग के पूर्वोद्धृत वचन एवं भगवतीसूत्र (शतक १ / उद्देशक ९ / पृ.२०६-२०९ एवं २९६-३००/ जिनागम प्रकाशन सभा मुम्बई / वि० सं० १८५४) के वचन उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि श्वेताम्बर-आगमों में दिगम्बरत्व को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। उनका यह लेख वीरसेवा मन्दिर के त्रैमासिक पत्र **अनेकान्त** (अप्रैल-जून १९९३) में तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी की त्रैमासिक शोधपत्रिका **श्रमण** (अप्रैल-जून २००६) में प्रकाशित हुआ है।

---

१२. हिन्दी अनुवाद : मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज।

१३. ''तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैतद् भवति, यथा परिजीर्णं मे वस्त्रं, छिद्रं पाटितं चेत्यमेवादि वस्त्रगत-मपध्यानं न भवति।'' शीलांकाचार्य-वृत्ति / आचारांग / १/६/३/१८२/पृ. २२१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८

आचारांगानुसार द्रव्यपरिग्रह भी परिग्रह

दिगम्बरजैन-परम्परा में वस्त्रादि द्रव्यपरिग्रह तथा मूर्च्छारूप भावपरिग्रह, दोनों को परिग्रह माना गया है और कहा गया है कि दोनों के त्याग से ही साधु अपरिग्रही होता है। किन्तु पश्चात्कालीन श्वेताम्बराचार्यों ने वस्त्रपात्रादि-द्रव्यपरिग्रह को परिग्रह की परिभाषा से बाहर करने के लिए उन्हें धर्मोपकरणों की संज्ञा देकर कहा कि धर्मोपकरणों को रखना परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा (ममत्व) करना परिग्रह है। इसलिए वस्त्रपात्रादि को रखते हुए भी उनमें मूर्च्छा न करने से साधु अपरिग्रही होता है। परिग्रह की यह नवीन परिभाषा **दशवैकालिकसूत्र** में इस प्रकार प्रतिपादित की गयी है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ ॥ ६/१९॥

न सो परिग्गहो वुत्तो णायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा॥ ६/२०॥

अनुवाद–"साधु जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौञ्छन (रजोहरण) धारण करता है और उनका उपभोग करता है, उसका प्रयोजन संयम और लज्जा का पालन है। संयमलज्जापालक वस्त्रपात्रादि के रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है, अपितु उनमें मूर्च्छा करने को परिग्रह कहा है।" (**'परिहरन्ति च = परिभुञ्जते च'**/ हारिभद्रीयवृत्ति)।

किन्तु आचारांग में कहा गया है कि थोड़ा भी परद्रव्य रखना परिग्रह है—

"आवंति केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ।" (आचारांग / १ / ५ / २ / १५०)।

अनुवाद—"लोक में जितने भी परिग्रहवाले मुनि हैं, उनका परिग्रह थोड़ा हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, चेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रहवाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं।[१४] यह परिग्रह इनके लिए महाभय (का कारण) है। संसार की दशा जानकर इसे छोड़ो। जिसके पास यह परिग्रह नहीं होता, उसे महाभय नहीं होता।"

---

१४. "एतेन च परिग्रहेण परिग्रहवन्तः सन्तः एतेष्वेव परिग्रहवत्सु गृहस्थेष्वन्तर्वर्तिनो, व्रतिनोऽपि स्युः।" शीलांकाचार्य-वृत्ति / आचारांग / १ / ५ / २ / १५०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस सूत्र में प्रयुक्त अल्प-बहु, सूक्ष्म-स्थूल और चेतन-अचेतन विशेषणों से स्पष्ट होता है कि यहाँ द्रव्यपरिग्रह (बाह्यपरिग्रह) पर जोर दिया गया है, उसे महाभय का कारण बतलाया गया है, जिससे सूचित होता है कि वह मूर्च्छा का कारण होने से नरकादि के भयानक दुःखों का हेतु बनता है।[१५] यह भी सूचित होता है कि अणुमात्र भी परिग्रह रखने पर साधु 'साधु' नहीं रहता, गृहस्थों की श्रेणी में चला जाता है।

इस सूत्र में वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौंछन के परिग्रह को संयम और लज्जा का उपकरण कहकर परिग्रह की परिभाषा से मुक्त नहीं किया गया है, बल्कि सूत्र १८२ में सचेलत्व को अपध्यान का कारण बतलाकर परिग्रह की परिभाषा के भीतर कर दिया गया है। (देखिये, पा.टि.१३)।

इस प्रकार आचारांग में परिग्रह की दिगम्बरमान्य परिभाषा की उपलब्धि दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता घोषित करती है।

९

परीषहजय एवं तप के लिए पूर्णनिर्वस्त्रता की अनुशंसा

आचारांग में परीषहजय के लिए पूर्णनग्नता की अनुशंसा की गयी है। पूर्व में **'जे भिक्खू अचेले परिवुसिए'** तथा **'अदुवा तत्थ परावक्कमंतं'** इत्यादि सूत्र क्रमांक २२०-२२१ उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहा गया है कि यदि भिक्खु शीतादि परीषह तो सहन कर सकता हो, किन्तु गुह्यप्रदेश के निरावरण रहने से लज्जित होता हो, तो उसे केवल कटिवस्त्र धारण करना चाहिए। किन्तु यदि यह कारण न हो, तो उसे नग्न ही रहना चाहिए , क्योंकि नग्न रहने से तृणादि के चुभने, ठंड-गर्मी लगने, डाँस-मच्छर आदि के काटने से जो पीड़ाएँ होती हैं, उन्हें वह भलीभाँति सहन करता है, जिससे उपकरणों और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि सवस्त्र अवस्था से निर्वस्त्र अवस्था अधिक लाभकारी है। निर्वस्त्र रहने पर भिक्खु जिस कर्मभार से मुक्त होता है,[१६] उससे सवस्त्र रहने पर नहीं होता।

पूर्व में आचारांग के **'अह पुण एवं जाणिज्जा'** इत्यादि सूत्र २०९-२१० भी उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहा गया है कि शीतादिपरीषह न सह पाने के कारण साधु जो वस्त्र धारण करता है, उन्हें शीतादि की बाधाएँ समाप्त हो जाने पर त्याग

---

१५. "एतदेव---परिग्रहवत्त्वं---परिग्रहवतां नरकादिगमनहेतुत्वात् सर्वस्याविश्वासकारणाद्वा महाभयं भवति।" शीलांकाचार्य-वृत्ति / आचारांग / १/ ५ / २ / १५०।

१६. "शरीरोपकरणकर्म्मणि वा लाघवमागमयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यादिति।" शीलांकाचार्य-वृत्ति / आचारांग / १ / ७ / ३ / २१०/ पृ. २५१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

देना चाहिए, क्योंकि वस्त्र परित्याग कर देने पर साधु को कायक्लेशरूप तप का लाभ होता है।[१७]

भगवती-आराधना की 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में अपराजित सूरि लिखते हैं—"**इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।**" (पृ.३२६)।

अनुवाद—"परीषहसूत्रों में (उत्तराध्ययन में) जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श आदि पीड़ाओं को सहन करने के वचन हैं, उनसे सिद्ध होता है कि साधु को अचेल (सर्वथा नग्न) रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि सवस्त्र को शीतादि की पीड़ाएँ नहीं होतीं।"

श्वेताम्बर-आगमों के ये वचन कि परीषहजय और कायक्लेश-तप पूर्ण नग्न अवस्था में ही संभव है, सिद्ध करते हैं कि मुनि के लिए मूलतः पूर्णनग्न रहने का ही उपदेश दिया गया है। इन वचनों से दिगम्बरत्व की पूर्ववर्तिता प्रमाणित होती है।

१०

दिगम्बरत्व उत्सर्गमार्ग, साम्बरत्व अपवादमार्ग

स्थानांग में विधान किया गया है कि केवल तीन परिस्थितियों में वस्त्रधारण करना चाहिए। वे तीन परिस्थितियाँ हैं : ह्री-प्रत्यय (लज्जा का अनुभव), जुगुप्सा-प्रत्यय (लोकनिन्दा का भय) तथा परीषह-प्रत्यय (शीतादि की पीड़ा सहने में असमर्थता)- "**तिहिं ठाणेहिं वत्थं धारेज्जा। तं जहा हिरिवत्तियं, दुगुंछावत्तियं, परीसह-वत्तियं।**" (स्था. सू./३/३/३४७/१५०)

लज्जा की अनुभूति दो कारणों से हो सकती है : जननेन्द्रिय के कुरूप होने से तथा स्त्रियों को देखकर लिंगोत्थान हो जाने से।[१८] इन्हीं कारणों से लोकनिन्दा का

---

१७. "तस्य वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्।" वही।

१८.क—"तत्र प्रजनने मेहने 'वेउव्वि त्ति' वैक्रिये विकृते तथा अप्रावृतेऽनावृते, वातिके चोत्सूनत्व-भाजने, ह्रिया लज्जया सत्या, खड्डु बृहत्प्रमाणे 'लिंगुदयट्ठ त्ति' स्त्रीदर्शने लिङ्गोदयरक्षणार्थं च पट-श्चोलपट्टो मत इति।" हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७५-७९ / पृ. ५१६।

ख—"आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं, कारणापेक्षया भिक्षूणाम् ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति।" विजयोदयाटीका / भ. आ. / गा. 'आचेलक्कुद्देसिय' ४२३ / पृ. ३२४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भी भय हो सकता है। यदि उक्त तीन कारण न हों, तो साधु को नग्न ही रहना चाहिए। आचारांग के पूर्वोद्धृत वचनों में भी ऐसा ही कहा गया है। इस प्रकार श्वेताम्बर-आगमों में भी दिगम्बरत्व का ही मुख्यतः विधान किया गया है। वस्त्रधारण की अनुमति तो कारणाश्रित होने से आपवादिक है। दिगम्बरसम्प्रदाय में भी विशेष परिस्थितियों में मुमुक्षुओं को वस्त्रधारण की अनुमति है, किन्तु वस्त्रधारण करनेवाले साधकों को मुनि-तुल्य नहीं माना गया है। उनका आध्यात्मिक स्तर मुनियों से हीन होता है। उन्हें अन्ततः वस्त्र त्यागकर मुनि बनना होता है, तभी वे मोक्ष की साधना के योग्य बनते हैं। सार यह है कि श्वेताम्बर-आगमों में साधुओं के लिए दिगम्बरचर्या का ही मुख्यतः विधान है। यद्यपि श्वेताम्बरपरम्परा में उसका आचरण कभी नहीं किया गया, इसके विपरीत उसे जिनकल्प नाम देकर व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया, तथापि आचारांग-स्थानांग आदि में उसे श्रेष्ठ और ह्री-जुगुप्सादि कारणों के अभाव में ग्राह्य बतलाया गया है, अतः दिगम्बरमार्ग की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्वितीय प्रकरण

उत्तरवर्ती साहित्य में दिगम्बरीय सिद्धान्तों का खण्डन

श्वेताम्बराचार्यों ने अचेलकता के इतिहास को मिटाने का कौशलपूर्ण प्रयास किया है। वह कौशल है परिभाषाओं को बदलना, विपरीत व्याख्याएँ, तथा आधारहीन कल्पनाएँ करना। परिग्रह की परिभाषा बदली गई, 'अचेल' और 'नग्न' शब्दों की विपरीत व्याख्याएँ की गयीं, नाममात्र के अचेल, वस्तुतः सचेल-जिनकल्प और सचेल-स्थविरकल्प का भेद पैदा किया गया, पश्चात् जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा भी कर दी गयी, तीर्थंकरों के साथ सर्वसाधर्म्य का निषेध किया गया, अचेलत्व को संयम में बाधक करार दिया गया तथा 'वस्त्र ग्रहण किये बिना संयम और मोक्ष संभव नहीं' इस स्वकल्पित मत को जिनाज्ञा के रूप में प्रस्तुत किया गया। इससे यह फलित किया गया कि भगवान् महावीर ने वास्तव में अचेलकधर्म का नहीं, सचेलधर्म का उपदेश दिया है। आइये, अचेलधर्म के स्थान में सचेलधर्म को जिनोपदिष्ट सिद्ध करने के उन कौशलपूर्ण तरीकों पर नजर डालें।

१

परिग्रह की परम्परागत परिभाषा का खण्डन

पूर्व (प्रकरण १/शी.८) में 'दशवैकालिक' की दो गाथाएँ (६/१९-२०) उद्धृत की गयी हैं, जिनमें कहा गया है—"साधु जो वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौञ्छन रखता है, वह परिग्रह नहीं है, अपितु उन वस्त्र-पात्रादि में मूर्च्छा (ममत्व) करना परिग्रह है।" इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय यह मान्यता प्रचलित थी कि साधु का वस्त्रपात्रादि रखना परिग्रह है। परिग्रह की इस परिभाषा के अनुसार अपरिग्रही होने के लिए वस्त्रादि का सर्वथा त्याग आवश्यक है। यह परिभाषा उन साधुओं के प्रतिकूल थी, जिन्होंने वस्त्रपात्रादि रखना शुरू कर दिया था। अतः उन्होंने परिग्रह की परम्परागत परिभाषा को ही अप्रामाणिक घोषित कर दिया और कहना शुरू कर दिया कि भगवान् महावीर ने वस्त्रपात्रादि रखने को परिग्रह नहीं कहा है, बल्कि उनमें मूर्च्छा करने को परिग्रह कहा है। ऐसा ही उन्होंने शास्त्रों में भी लिख दिया। इस परिभाषा से उन्होंने परिग्रह रखते हुए भी अपने को अपरिग्रही सिद्ध कर लिया।

परिग्रह की पूर्वप्रचलित परिभाषा के खण्डन से सिद्ध होता है कि उस परिभाषा को माननेवाली परम्परा पूर्व से चली आ रही थी, अन्यथा खण्डन का प्रश्न ही नहीं उठता था। यह खण्डन श्वेताम्बरमान्यतानुसार वीरनिर्वाण के लगभग ७५ वर्ष बाद[१९]

१९. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा/पृ. ५६२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(४५२ ई० पू०) हुए आचार्य शय्यम्भव ने अपने 'दशवैकालिकसूत्र' नामक ग्रन्थ में किया है, जिससे प्रकट होता है कि वस्त्रपात्रादि रखने को परिग्रह माननेवाली दिगम्बरपरम्परा का अस्तित्व ४५२ ई० पू० में था।

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर सन्त श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के निम्नलिखित वक्तव्य से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। वे लिखते हैं—

"सम्भवतः **प्रभव स्वामी**[२०] के समय में ही परस्पर में मतभेद के बीज पनपने लगे होंगे। दशवैकालिकसूत्र में आचार्य शय्यंभव ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है। संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है। इस कथन से ऐसा लगता है कि उस समय संघ में आन्तरिक मतभेद प्रारम्भ हो गया था।"[२१]

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का सम्पूर्ण मतभेद परिग्रह की उपर्युक्त (दशवैकालिकसूत्र-निर्दिष्ट) परिभाषा पर ही टिका हुआ है। उत्तरकालीन सभी श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने इस परिभाषा को विभिन्न युक्तियों से पुष्ट कर अपनी सग्रन्थावस्था को भी निर्ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यथा, **विशेषावश्यकभाष्य** में श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कहते हैं—

तम्हा किमत्थि वत्थुं गंथोऽगंथो व सव्वहा लोए।
गंथोऽगंथो व मओ मुच्छममुच्छाहिं निच्छयओ॥ २५७३॥

वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमराग-दोसस्स।
तं तमपरिग्गहो च्चिय परिग्गहो जं तदुवघाइं॥ २५७४॥

अनुवाद—"कोई भी वस्तु अपने-आप में ग्रन्थ (परिग्रह) या अग्रन्थ (अपरिग्रह) नहीं होती, अपितु जिस वस्तु में मूर्च्छा होती है, वह ग्रन्थ कहलाती है और जिसमें मूर्च्छा नहीं होती वह अग्रन्थ। अतः रागद्वेषरहित जीव के पास जो वस्त्रादिरूप संयम के साधन होते हैं, वे परिग्रह नहीं हैं, जो उसके उपघातक हैं, वे परिग्रह हैं।"

दिगम्बरमत के अनुसार वस्त्रपात्रादि परीषहजन्य पीड़ा के निवारणार्थ ग्रहण किये जाते हैं, अतः देहसुख के साधन होने से मूर्च्छा (सुखेच्छा) के फल हैं और मूर्च्छा के हेतु हैं, अतः उनमें मूर्च्छा उत्पन्न न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, फलस्वरूप वे परिग्रह ही हैं। इसका विस्तार से स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

---

२०. प्रभवस्वामी आचार्य शय्यंभव के पूर्ववर्ती थे। (वही / पृष्ठ ५६२)।
२१. वही / पृष्ठ ५६२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

परिग्रह की इस दिगम्बरमान्य परम्परागत परिभाषा का खण्डन श्वेताम्बराचार्य शय्यंभव द्वारा दशवैकालिकसूत्र की पूर्वोक्त गाथाओं में किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरपरम्परा का अस्तित्व आचार्य शय्यंभव (४५२ ई० पू०) के पूर्व था।

२

जिनकल्प का नाम देकर अचेलत्व के विच्छेद की घोषणा

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने बोटिकमतोत्पत्तिकथा में शिवभूति के मुख से मोक्षार्थी के लिए जिस जिनकल्प के ग्राह्य होने का वर्णन कराया है, वह अक्षरशः दिगम्बर-जैन मुनि के अचेललिंग का वर्णन है। उसे वह निष्परिग्रह एवं तीर्थंकरों द्वारा गृहीत अचेललिंग कहता है। वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को वह कषाय, भय, मूर्च्छादि दोषों का कारण बतलाता है। इस प्रकार उसके समस्त तर्क एवं मान्यताएँ दिगम्बरजैनमतानुगामी हैं। इसका विस्तार से निरूपण द्वितीय अध्याय (प्र.२/शी.५) में किया गया है।

यद्यपि गुरु आर्यकृष्ण द्वारा वर्णित जिनकल्प किसी न किसी रूप में सचेल है, तथापि शिवभूति जिस तीर्थंकरवत् या दिगम्बरजैन-मुनिवत् अचेललिंग को मोक्षार्थी के लिए ग्राह्य बतलाता है, उसे भी गुरु आर्यकृष्ण जिनकल्प कहकर जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न हुआ घोषित कर देते हैं। (देखिये, अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.५)। शिवभूति उसे ही धारण कर श्वेताम्बरसंघ से अलग हो जाता है तथा अपने शिष्यों को उसी अचेललिंग की दीक्षा देता है।

इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बर-जैनमत को जम्बूस्वामी के पूर्व से अर्थात् न केवल तीर्थंकर महावीर के काल से, अपितु तीर्थंकर ऋषभदेव के युग से प्रचलित स्वीकार किया गया है। (देखिये, अध्याय २/प्र. २/शी.१०.५)। केवल उसे जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न मान लिया गया है। व्युच्छिन्न मानना ही उसके पूर्वप्रचलित होने का प्रमाण है।

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि श्री **नगराज** जी डी० लिट्० के निम्नलिखित वचनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है—"श्वेताम्बर-आगमों में जिनकल्प तथा स्थविरकल्प के रूप में नग्न और सवस्त्र, दोनों मुनि-आचार-विधियों का निरूपण है। फलतः इससे श्वेताम्बर-श्रमण-आचार के साथ-साथ दिगम्बर-श्रमण-आचार को भी पुष्टि मिलती है। दिगम्बर, जिन शास्त्रों को अप्रामाणिक कहें, उन्हीं शास्त्रों से दिगम्बर-आचार का समर्थन हो, यह श्वेताम्बरों को कब स्वीकार होता? यह असम्भाव्य नहीं जान पड़ता कि कहीं इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तो श्वेताम्बरों ने आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद घोषित न कर दिया हो, जिससे उसका शास्त्रीय समर्थन असामयिक एवं अनुपादेय बन जाये। अन्वेषक एवं समीक्षक विद्वान् जानते हैं कि धर्म-सम्प्रदाय के इतिहास

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में ऐसी घटनाएँ अघटनीय नहीं होतीं।'' (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन/ खण्ड २/पृ. ५५८)।

मूर्धन्य श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी के विचारों से भी उक्त तथ्य सम्पुष्ट होता है। उनके विचार द्वितीय अध्याय में उद्धृत किये गये हैं।[२२]

३

सचेल के लिए 'अचेलक' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध बतलाने का प्रयास

३.१. महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म का अस्तित्व नहीं

यह आश्चर्य की बात है कि श्वेताम्बरग्रन्थों के अनुसार तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने केवल अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने अचेल और सचेल दोनों धर्मों का।[२३] तथा कल्पनिर्युक्ति की 'आचेलक्कु-द्देसिय' इत्यादि गाथा में वर्णन है कि साधुओं के दस कल्पों (आचारों) में 'आचेलक्य' (अचेलत्व) पहला कल्प (आचार) है। अर्थात् साधु के लिए अचेलत्व धारण करना अनिवार्य है।[२४] इन कथनों से सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर ने सचेलकधर्म का उपदेश नहीं दिया था, वे केवल अचेलकधर्म के उपदेशक थे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान में प्रचलित सचेलकधर्म तीर्थंकर महावीर द्वारा अनुपदिष्ट, निह्नवमत है। केवल दिगम्बरजैनमत अचेलकधर्म का अनुयायी होने के कारण तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट ठहरता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान में प्रचलित सचेलकधर्म तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट है, क्योंकि उनका तीर्थकाल भगवान् महावीर के तीर्थंकर होते ही समाप्त हो गया था। अब तीर्थंकर महावीर का तीर्थकाल प्रचलित है। उसमें सचेलकधर्म का उपदेश नहीं है।

३.२. विपरीतार्थ-प्ररूपण द्वारा महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म की सिद्धि का प्रयास

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण तथा श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण की दृष्टि जब उपर्युक्त तथ्य पर गयी, तो उन्होंने भगवान् महावीर के तीर्थ में सचेलधर्म का उपदेश सिद्ध करने के लिए उलटी गंगा बहाने का एक अद्भुत उपाय ढूँढ़ निकाला। उन्होंने रात

---

२२. देखिए , अध्याय २ / प्रकरण ३ / शीर्षक ३.१०।
२३. देखिये, इसी अध्याय का प्रथम प्रकरण / शीर्षक ५।
२४. देखिये, इसी अध्याय का प्रथम प्रकरण / शीर्षक ५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

परिग्रह की इस दिगम्बरमान्य परम्परागत परिभाषा का खण्डन श्वेताम्बराचार्य शय्यंभव द्वारा दशवैकालिकसूत्र की पूर्वोक्त गाथाओं में किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरपरम्परा का अस्तित्व आचार्य शय्यंभव (४५२ ई० पू०) के पूर्व था।

२

जिनकल्प का नाम देकर अचेलत्व के विच्छेद की घोषणा

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने बोटिकमतोत्पत्तिकथा में शिवभूति के मुख से मोक्षार्थी के लिए जिस जिनकल्प के ग्राह्य होने का वर्णन कराया है, वह अक्षरशः दिगम्बर-जैन मुनि के अचेललिंग का वर्णन है। उसे वह निष्परिग्रह एवं तीर्थंकरों द्वारा गृहीत अचेललिंग कहता है। वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को वह कषाय, भय, मूर्च्छादि दोषों का कारण बतलाता है। इस प्रकार उसके समस्त तर्क एवं मान्यताएँ दिगम्बरजैनमतानुगामी हैं। इसका विस्तार से निरूपण द्वितीय अध्याय (प्र.२/शी.५) में किया गया है।

यद्यपि गुरु आर्यकृष्ण द्वारा वर्णित जिनकल्प किसी न किसी रूप में सचेल है, तथापि शिवभूति जिस तीर्थंकरवत् या दिगम्बरजैन-मुनिवत् अचेललिंग को मोक्षार्थी के लिए ग्राह्य बतलाता है, उसे भी गुरु आर्यकृष्ण जिनकल्प कहकर जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न हुआ घोषित कर देते हैं। (देखिये, अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.५)। शिवभूति उसे ही धारण कर श्वेताम्बरसंघ से अलग हो जाता है तथा अपने शिष्यों को उसी अचेललिंग की दीक्षा देता है।

इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बर-जैनमत को जम्बूस्वामी के पूर्व से अर्थात् न केवल तीर्थंकर महावीर के काल से, अपितु तीर्थंकर ऋषभदेव के युग से प्रचलित स्वीकार किया गया है। (देखिये, अध्याय २/प्र. २/शी.१०.५)। केवल उसे जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न मान लिया गया है। व्युच्छिन्न मानना ही उसके पूर्वप्रचलित होने का प्रमाण है।

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि श्री **नगराज** जी डी० लिट्० के निम्नलिखित वचनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है—"श्वेताम्बर-आगमों में जिनकल्प तथा स्थविरकल्प के रूप में नग्न और सवस्त्र, दोनों मुनि-आचार-विधियों का निरूपण है। फलतः इससे श्वेताम्बर-श्रमण-आचार के साथ-साथ दिगम्बर-श्रमण-आचार को भी पुष्टि मिलती है। दिगम्बर, जिन शास्त्रों को अप्रामाणिक कहें, उन्हीं शास्त्रों से दिगम्बर-आचार का समर्थन हो, यह श्वेताम्बरों को कब स्वीकार होता? यह असम्भाव्य नहीं जान पड़ता कि कहीं इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तो श्वेताम्बरों ने आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद घोषित न कर दिया हो, जिससे उसका शास्त्रीय समर्थन असामयिक एवं अनुपादेय बन जाये। अन्वेषक एवं समीक्षक विद्वान् जानते हैं कि धर्म-सम्प्रदाय के इतिहास

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

को दिन कहने के समान यह घोषित कर दिया कि 'अचेल' शब्द का अर्थ 'अचेल' भी होता है और 'सचेल' भी। किसी को अचेल होने पर ही अचेल कहते हैं, किसी को सचेल होने पर भी 'अचेल' शब्द से पुकारते हैं। तीर्थंकर अचेल होने के कारण ही अचेल कहलाते हैं और सामान्य साधु सचेल होने पर भी अचेल कहलाते हैं। इसकी युक्तिसंगतता उन्होंने लोक में प्रयोजनविशेष से कभी-कभी प्रयुक्त होनेवाली उलटी भाषा (वक्रोक्ति या असंगतोक्ति) के दृष्टान्तों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। श्री जिनभद्रगणी **विशेषावश्यकभाष्य** में लिखते हैं—

सदसंतचेलगोऽचेलगो य जं लोगसमयसंसिद्धो।
तेणाचेला मुणओ संतेहिं जिणा असंतेहिं॥ २५९८॥

परिसुद्ध जुण्ण कुच्छिअ थोवाऽनिययन्नभोगभोगेहिं।
मुणओ मुच्छारहिया संतेहिं अचेलया होंति॥ २५९९॥

जह जलमवगाहंतो बहुचेलो वि सिरवेट्ठियकडिल्लो।
भण्णइ नरो अचेलो तह मुणओ संतचेला वि॥ २६००॥

तह थोव-जुन्न-कुच्छियचेलेहि वि भन्नए अचेलो त्ति।
जह तूरत्तर सालिय! लहुं दो पोत्तिं नग्गिया मो त्ति॥ २६०१॥

अनुवाद—"यतः लोक और समय (आगम) में सचेल और अचेल दोनों के लिए 'अचेलक' शब्द प्रसिद्ध है,[२५] अतः सामान्य साधु सचेल होने पर भी अचेल कहलाते हैं और तीर्थंकर अचेल होने के कारण ही अचेल शब्द से अभिहित होते हैं।" (२५९८)

"मूर्च्छारहित मुनि परिशुद्ध (एषणीय), जीर्ण (पुराने), कुत्सित (निस्सार= अनुपयोगी), स्तोक (अल्प) और अनियतभोग (कभी-कभी सेवन किये जाने वाले) वस्त्रों को धारण करने पर भी अचेलक कहलाते हैं।" (२५९९)।

"जैसे कोई पुरुष नदी पार करते समय भीग जाने के भय से कटिवस्त्र उतारकर सिर पर लपेट लेता है, तो उसके द्वारा वस्त्र का उपभोग किये जाने पर भी लोग उसे अचेल (नग्न) कहते हैं, वैसे ही मुनि वस्त्रधारण करते हुए भी अचेल कहलाते हैं।" (२६००)।

"तथा जैसे कोई बहुछिद्रयुक्त पुरानी साड़ी पहने हुई स्त्री जुलाहे के पास जाकर कहती है कि मुझे शीघ्र नई साड़ी बुनकर दो, मैं नंगी हूँ, वैसे ही अल्प,

२५. "सति असति च चेलेऽचेलकत्वस्यागमे लोके च रूढकत्वात्---।" हेमचन्द्रसूरि-वृत्ति/ विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५९८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जीर्ण और मैले-कुचैले वस्त्रधारण करनेवाले साधु को भी नग्न कहा जाता है।''(२६०१)[२६]

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म में 'अचेल' शब्द से अचेल और सचेल दोनों अर्थों के ग्राह्य होने का समर्थन श्री **संघदासगणि-क्षमाश्रमण** ने भी **बृहत्कल्पसूत्र** के **लघुभाष्य** में निम्नलिखित गाथाओं द्वारा किया है—

आचेलक्कुदेसिय सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।
बत जेट्ठ पडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पे॥ ६३६४॥

इस गाथा में मुनियों के लिए 'आचेलक्य' आदि दस कल्प (आचार) आवश्यक बतलाकर 'आचेलक्य' शब्द से अचेलत्व के साथ सचेलत्व भी ग्राह्य है, इसका समर्थन करने के लिए श्री संघदासगणी कहते हैं—

दुविहो होंति अचेलो संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगर असंतचेला संताचेला भवे सेसा॥ ६३६५॥

अनुवाद–''अचेल दो प्रकार के होते है: सद्-अचेल (वस्त्र-सहित अचेल) तथा असद्-अचेल (वस्त्ररहित अचेल)। तीर्थंकर वस्त्ररहित अचेल हैं, शेष साधु वस्त्रसहित अचेल।''

और सचेल के लिए अचेल-शब्द के व्यवहार का समर्थन भी श्री संघदासगणी ने उन्हीं दो दृष्टान्तों (१. कटिवस्त्र को सिर पर लपेटकर नदी पार करनेवाले पुरुष एवं २. जुलाहे से शीघ्र साड़ी बुनकर देने के लिए कहनेवाली जीर्ण-साड़ीधारी स्त्री) से किया है, जिनसे श्री जिनभद्रगणी ने किया है। यथा—

सीसावेढियपुत्तं णदिउत्तरणम्मि नग्गयं वेंति।
जुण्णेहि णग्गिया मी तुर सालिय! देहि मे पोत्तिं॥ ६३६६॥

जुन्नेहिँ खंडिएहि य असव्वतणुपाउतेहिं ण य णिच्चं।
संतेहिँ वि णिग्गंथा अचेलगा होंति चेलेहिं॥ ६३६७॥

'अचेल' शब्द से 'अचेल' और 'सचेल' ये दो अर्थ अभिप्रेत बतलाकर श्री संघदासगणी एक शंका उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत गाथा में करते हैं—

---

२६. ''जीर्णादिभिरपि वस्त्रैरचेलकत्वं लोकरूढमेवेति --- यथेह कापि योषित् कटीवेष्टितजीर्ण-बहुच्छिद्रैकसाटिका कञ्चित् कौलिकं वदति-'त्वरस्व भोः शालिक! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोत्तीं शाटिकां निर्वाप्य ददस्व समर्पय, नग्निका वर्तेऽहम्। तदिह सवस्त्रायामपि योषिति नाग्न्यवाचकशब्दप्रवृत्तेः---।'' हेमचन्द्रसूरिकृत-वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २६०१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एवं दुग्गत-पहिता अचेलगा होंति ते भवे बुद्धी।
ते खलु असंततीए धरेंति ण तु धम्मबुद्धीए॥ ६३६८॥

इसका स्पष्टीकरण वृत्तिकार आचार्य श्री क्षेमकीर्ति ने इन शब्दों में किया है—

''यदि जीर्ण-खण्डितादिभिर्वस्त्रैः प्रावृतैः साधवोऽचेलकास्तत एवं दुर्गताश्च दरिद्राः पथिकाश्च--- तेऽप्यचेलका भवन्तीति 'ते' तव बुद्धिः स्यात् तत्रोच्यते– ते खलु दुर्गत-पथिकाः 'असत्तया' नव-व्यूत-सदशकादीनां वस्त्राणामसम्पत्त्या परिजीर्णा-दीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनधर्मबुद्ध्या। अतो भावतस्तद्विषयमूर्च्छापरिणामस्यानिवृत्त-त्वान्नैते अचेलकाः। साधवस्तु सति लाभे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णखण्डितादीनि धर्मबुद्ध्या धारयन्तीत्यतोऽचेला उच्यन्ते।'' (बृहत्कल्प-लघुभाष्य-वृत्ति / गा. ६३६८)।

अनुवाद—''यदि फटे-पुराने वस्त्र धारण करने से साधु अचेलक कहलाते हैं, तो दरिद्र पथिक भी अचेलक कहलाने लगेंगे, ऐसी शंका होने पर समाधान यह है कि दरिद्र पथिक तो नवीन वस्त्र प्राप्त न होने से फटे-पुराने वस्त्र धारण करते हैं, धर्मबुद्धि से नहीं। अतः वे मूर्च्छापरिणाम से निवृत्त न होने के कारण अचेलक नहीं कहलाते। किन्तु साधु तो बहुमूल्य वस्त्र त्याग कर धर्मबुद्धि से फटे-पुराने वस्त्र धारण करते हैं, इसलिए अचेल कहलाते हैं।''

विशेषावश्यकभाष्य के वृत्तिकार श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने भी सचेल के लिए 'अचेल' शब्द के व्यवहार का समर्थन किया है। यथा—

''सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेला भण्यन्ते, जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चे-लैर्मुख्यवृत्त्याऽचेला व्यपदिश्यन्ते। इदमुक्तं भवति–इहाचेलत्वं द्विविधं मुख्यमुपचरितं च। तत्रेदानीं मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवति। अत औपचारिकं गृह्यते। मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति।'' (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५९८)।

अनुवाद—''सामान्यसाधु सचेल होते हुए भी उपचार से ('अचेल' शब्द के गौण या उपचरित अर्थ की अपेक्षा) अचेल कहे जाते हैं, किन्तु तीर्थंकर अचेल होने से मुख्यवृत्त्या ('अचेल' शब्द के मुख्यार्थ की अपेक्षा) अचेल कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अचेलत्व दो प्रकार का है : मुख्य और उपचरित। इनमें से वर्तमान में मुख्य अचेलत्व संयम का साधक नहीं है, अतः वर्तमान में अचेल शब्द से औपचारिक अचेलत्व अर्थ ग्रहण किया जाता है। मुख्य अचेलत्व तो तीर्थंकरों के ही था।''

यहाँ श्री जिनभद्रगणी, श्री संघदासगणी एवं श्री मलधारी हेमचन्द्र, तीनों ने **अचेलक** शब्द को तीर्थंकरों के प्रकरण में अचेलक (नग्न) का वाचक तथा सामान्य साधुओं के प्रसंग में **सचेलक** का वाचक बतलाया है। इसलिए उत्तराध्ययनसूत्र आदि में जो

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यह कहा गया है कि ''भगवान् ऋषभदेव और महावीर ने अपने तीर्थ के साधुओं को अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ के साधुओं को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का'' इस कथन पर अपनी मान्यता का आरोप करने के लिए श्री संघदासगणी ने तीर्थंकर ऋषभदेव और महावीर के प्रसंग में **अचेलक** शब्द को **सचेलक** का वाचक बतलाया है और मध्य के बाईस तीर्थंकरों के प्रसंग में **नग्न** का वाचक। देखिये **बृहत्कल्प-लघुभाष्य** की निम्नलिखित गाथाएँ—

आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होंति अचेलो सचेलो य॥ ६३६९॥

पडिमाएँ पाउता वा णऽतिक्कमंते उ मज्झिमा समणा।
पुरिम-चरिमाण अमहद्धणा तु भिण्णा इमे मोत्तुं॥ ६३७०॥

इनमें से ६३७०वीं गाथा का अर्थ खोलते हुए वृत्तिकार क्षेमकीर्ति कहते हैं— ''मध्यमाः मध्यमतीर्थकरसत्काः साधवः 'प्रतिमया वा' **नग्नतया** 'प्रावृता वा' प्रमाणातिरिक्त-महामूल्यादिभिर्वासोभिराच्छादित-वपुषो नातिक्रामन्ति भागवतीमाज्ञामिति गम्यते। पूर्व-चरमाणां तु प्रथम-पश्चिमतीर्थकरसाधूनां 'अमहाधनानि' स्वल्पमूल्यानि 'भिन्नानि च' अकृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदशकानि चेत्यर्थः---।''

अनुवाद—''मध्यमतीर्थंकरों के तीर्थ के साधु **नग्न रहें** अथवा शरीर के प्रमाण से भी बड़े महामूल्यवान् वस्त्रों से तन आच्छादित करें, दोनों ही स्थितियों में वे भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधु स्वल्पमूल्यवाले, खंडित एवं शरीरप्रमाण वस्त्र धारण करते हैं---।''

यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्री संघदासगणी ने पूर्वोद्धृत ६३६५वीं गाथा में केवल तीर्थंकरों के प्रसंग में 'अचेलक' शब्द को 'नग्न' अर्थ का वाचक बतलाया है, तथापि यहाँ मध्यम तीर्थंकरों के साधुओं के प्रसंग में भी 'अचेल' शब्द को 'नग्न' अर्थ का प्रतिपादक प्ररूपित किया है। किन्तु उत्तरवर्ती टीकाकारों ने यहाँ के 'अचेल' शब्द को भी 'सचेल' का वाचक घोषित कर दिया। (देखिये, अगला शीर्षक ३.३)।

३.३. 'अचेल' शब्द का अशास्त्रप्रसिद्ध-अलोकप्रसिद्ध अर्थप्ररूपण

श्वेताम्बराचार्यों ने जब **अचेलक** या **अचेल** शब्द को **सचेल** का वाचक घोषित कर दिया, तब मध्यम (बीच के बाईस) तीर्थंकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेशक बतलाये जाने से **सचेल** शब्द का पृथक् से उल्लेख निरर्थक हो गया।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

फलस्वरूप इसे सार्थक सिद्ध करने के लिए व्याख्याकारों ने यह व्याख्या की, कि 'अचेल' शब्द सफेद रंग के फटे-पुराने, शरीरप्रमाण, अल्प वस्त्र धारण करने वाले साधु का वाचक है और 'सचेल' शब्द बहुमूल्य, रंगीन एवं शरीरप्रमाण से बडे, विशिष्ट वस्त्रधारण करने वाले साधु का। देखिए—

''साधूनां तु प्रथमचरमजिनतीर्थे श्वेतवर्णमानोपेत-जीर्णप्रायस्वल्पवस्त्रधारणेन प्रवरवेषाभावादचेलकत्वम्। --- अजितादिद्वाविंशतिजिनसाधूनां तु ऋजुप्राज्ञत्वाद् बहुमूल्यपञ्चवर्णवस्त्रधारणात् केषाञ्चित् सचेलकत्वं, केषाञ्चिच्च श्वेतवर्णमानोपेत-वस्त्रधारणादचेलकत्वम्।'' (कल्पकौमुदीवृत्ति / कल्पसूत्र / क्षण १ / पृ.२)।

अनुवाद—''प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में साधुगण श्वेतवर्ण के जीर्णप्राय, स्वल्प वस्त्र धारण करते थे और करते हैं, अतः प्रवरवेशरहित होने से वे अचेलक कहलाते थे तथा कहलाते हैं। किन्तु अजितनाथ आदि बाईस तीर्थंकरों के कुछ साधु ऋजुप्राज्ञ होने से बहुमूल्य, पञ्चवर्णात्मक वस्त्रधारण करते थे, अतः सचेलक कहलाते थे और कुछ श्वेतवर्ण के जीर्णप्राय वस्त्रधारण करने से अचेलक नाम से जाने जाते थे।''

''मध्यमतीर्थकरसत्काः साधवः प्रमाणातिरिक्त-महामूल्यादिभिर्वासोभिराच्छादि-तवपुषो नातिक्रामन्ति भगवतीमाज्ञामिति गम्यते।'' (बृ.कल्प / लघुभाष्यवृत्ति / ६ / ६३७०)।

अनुवाद—''बीच के बाईस तीर्थंकरों के साधु शरीरप्रमाण से बड़े और महामूल्य वस्त्रों से शरीर आच्छादित करते थे, तो भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे अर्थात् परिग्रही नहीं होते थे, वे सचेल कहलाते थे।''

उत्तराध्ययन (२३ / १३) में पार्श्वनाथ के सान्तरोत्तर धर्म की व्याख्या करते हुए श्री नेमिचन्द्र सूरि लिखते हैं—

''सान्तराणि वर्द्धमानस्वामि-यत्यपेक्षया मानवर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्तराणि महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमात् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरधर्मः देशितः।''

अनुवाद—''जिस धर्म में 'सान्तर' अर्थात् वर्धमान स्वामी के साधुओं के वस्त्रों की अपेक्षा जो प्रमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा 'उत्तर' अर्थात् महामूल्य होने के कारण प्रधानभूत होते हैं, वे वस्त्र धारण किये जाते हैं, वह धर्म सान्तरोत्तर है।''

इस तरह 'सचेल' और 'सान्तरोत्तरवस्त्रधारी' दोनों को एकार्थक बतलाते हुए यह व्याख्या की गई है कि वेशकीमती, रंगविरंगे, विशिष्टवस्त्रधारी साधुओं को आगम में सचेल कहा गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन

३.४. आगम में 'अचेलक' शब्द से 'अचेलक' अर्थ ही अभीष्ट

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य की पूर्वोद्धृत २५९८वीं गाथा में कहा है कि लोक और आगम, दोनों में 'सचेलक' के लिए 'अचेलक' शब्द प्रसिद्ध है (**लोगसमयसंसिद्धो**), किन्तु यह प्रामाणिक नहीं है।

'आचारांग में 'अचेल' शब्द से 'अचेल' (नग्न) अर्थ ही प्रतिपादित किया गया है, 'सचेल' या 'अल्पचेल' अर्थ नहीं। (देखिये, इसी अध्याय का प्र.१ / शी.६)। तथा 'स्थानांग' में कहा गया है कि "भिक्षु को यदि नग्न रहने में लज्जा का अनुभव हो, या वह शीतादि परीषह सहने में असमर्थ हो अथवा लोकनिन्दा से भयभीत हो, तभी वस्त्र धारण करे, अन्यथा अचेल रहे।" (देखिये, इसी अध्याय का प्र.१ / शी.१०)। लज्जा का अनुभव न होने पर अचेल रहने का अर्थ है कटिवस्त्र आदि धारण न करना (नग्न रहना)। यहाँ भी 'अचेल' शब्द 'अचेल' (नग्न) अर्थ का ही प्रतिपादक है। श्री संघदासगणी एवं श्री क्षेमकीर्ति ने भी अजितादि बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ के अचेल और सचेल साधुओं में 'अचेल' का अर्थ 'नग्न' बतलाया है। (देखिये, पूर्वशीर्षक ३.२)। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आगम में सचेल के लिए 'अचेलक' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध होने का कथन प्रामाणिक नहीं है।

३.५. प्राकृत-संस्कृत-भाषा-असम्मत वचन आप्तवचन नहीं

अचेलक शब्द का प्रतिपादित किया गया **सचेल** अर्थ अथवा **श्वेत-जीर्ण-अल्पवस्त्रधारी** अर्थ तथा **सचेल** शब्द का प्ररूपित किया गया **बहुमूल्य-पंचवर्णवस्त्रधारी** अर्थ प्राकृत-संस्कृत-भाषा-असम्मत, लोकभाषा-असम्मत एवं आगम- असम्मत (आचारांग-स्थानांग-असम्मत) है। अतः इन अर्थों के प्रतिपादक मानने पर 'अचेलक' और 'सचेल' शब्द आप्तवचन नहीं हो सकते। जिनवचन प्राकृत-संस्कृत में लिखित शास्त्रों में ही सन्निहित हैं और 'अचेलक' शब्द का 'नग्न' अर्थ ही प्राकृत-संस्कृत-भाषा-सम्मत, लोकभाषा-सम्मत और आगमसम्मत है। अतः उसे इसी अर्थ का प्रतिपादक मानने पर वह आप्तवचन कहला सकता है। इसी प्रकार 'सचेल' शब्द का केवल 'सचेल' (सवस्त्र) अर्थ स्वीकार करने पर ही वह आप्तवचन की कोटि में आ सकता है। यदि तीर्थंकरों को अपने तीर्थ के साधुओं के लिए **श्वेत-जीर्ण अल्पवस्त्र** एवं **बहुमूल्य-पंचवर्णात्मक-वस्त्र** धारण करने का उपदेश देना अभीष्ट होता, तो वे इन्हीं शब्दों का अथवा **सितचेल, रंजितचेल, कुचेल, सुचेल** आदि संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग करते हुए उपदेश देते। किन्तु, जिन शब्दों के ये अर्थ नही हैं, उन 'अचेल' और 'सचेल' शब्दों का प्रयोग कभी न करते, क्योंकि उनके शिष्य इन शब्दों से उपर्युक्त अर्थ असंगत

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

होने के कारण ग्रहण ही नहीं कर सकते थे। और तीर्थंकरों के वचन अन्यथा अर्थ के प्रतिपादक नहीं होते। अतः यदि तीर्थंकरों ने अचेल और अचेल-सचेल धर्मों का उपदेश दिया है, तो इन **अचेल** और **सचेल** शब्दों से वही अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, जो संस्कृत-प्राकृत-भाषा-सम्मत, लोकभाषा-सम्मत और आगम-सम्मत है, उससे उलटा अर्थ नहीं। उससे उलटा अर्थ ग्रहण करने पर ये शब्द आप्तवचन अर्थात् तीर्थंकरवचन नहीं कहला सकते। इससे सिद्ध होता है कि **अचेल** और **सचेल** शब्दों का उपर्युक्त उलटे या अप्रामाणिक अर्थों में प्रयोग तीर्थंकरों, गणधरों या गाथाकार आचार्यों ने नहीं किया, अपितु उत्तरवर्ती टीकाकारोंने किया है, जिससे उनके सम्प्रदाय के शास्त्रों से प्रतिपक्षी दिगम्बरपरम्परा का अस्तित्व सिद्ध न हो पाये। श्वेताम्बर ग्रन्थकारों में इस प्रवृत्ति के अस्तित्व की पुष्टि प्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि श्री नगराज जी डी० लिट्० ने की है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.२/शी. २)। श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। (देखिये, अध्याय २/प्र.३/शी.३.१०)।

३.६. सचेल की 'अचेल' संज्ञा गुणाश्रित नहीं

सचेल साधु में अचेलत्व (नग्नत्व) गुण नहीं होता, इसलिए उसकी 'अचेल' संज्ञा गुणश्रित नहीं है, अपितु आरोपित है। इस कारण उसका अचेलक नाम प्रचलित नहीं हो सकता। अत एव उसके लिए प्रचलित किया गया **अचेलक** नाम आप्तवचन नहीं है।

३.७. 'अचेलत्व' सचेल साधु का असाधारणधर्म नहीं

अचेलत्व सचेल साधु का असाधारणधर्म या लक्षण नहीं है, क्योंकि वह किसी भी सचेलसाधु में उपलब्ध नहीं होता, इसके विपरीत अचेल साधुओं में उपलब्ध होता है, अतः वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव, इन तीनों दोषों से युक्त है। जो धर्म इन तीन दोषों से रहित होता है, वही वस्तुविशेष का असाधारणधर्म-रूप लक्षण होता है—"**लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्**" (केशवमिश्रकृत तर्कभाषा/पृ.८) और वस्तु का लक्षण ही अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता का द्योतक एवं उसके नामविशेष के व्यवहार का हेतु होता है—**व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।** (श्रीकेशवमिश्रकृत : तर्कभाषा/उपोद्घात : आचार्य विश्वेश्वर/पृ.१२)। अर्थात् वस्तु का नामनिर्धारण उसके लक्षण पर आश्रित होता है। **अचेलत्व** सचेलमुनि का लक्षण नहीं है अतः उसे **अचेलक** नाम से व्यवहृत नहीं किया जा सकता। इस तरह चूँकि सचेल की 'अचेल' संज्ञा न्यायशास्त्र-सम्मत नहीं है, इसलिए उसका 'अचेल' अर्थ में आप्त (जिनेन्द्र) द्वारा प्रयुक्त होना असंभव है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३.८. विपरीतार्थ और अयथार्थ शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन

जब सचेल साधु को 'सचेल' शब्द से और श्वेतजीर्ण-अल्पवस्त्रधारी एवं महामूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी को इन्हीं शब्दों से या कुचेल, सुचेल आदि शब्दों से अभिहित किया जा सकता है, तब जिनेन्द्र ने इन्हें इन्हीं शब्दों से अभिहित क्यों नहीं किया? इनसे उलटे अर्थवाले और अयथा अर्थवाले शंकोत्पादक एवं विमोहजनक शब्दों से अभिहित क्यों किया? इसका कोई समाधान टीकाओं में नहीं मिलता, न ही हो सकता है। और तीर्थंकर निष्प्रयोजन कार्य नहीं कर सकते, अतः सिद्ध है कि सचेल साधु के लिए 'अचेलक' और महामूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी साधु के लिए 'सचेल' शब्द का व्यवहार तीर्थंकरोपदिष्ट नहीं है।

इससे साबित होता है कि सचेल को 'अचेल' या 'अचेलक' शब्द से प्रसिद्ध करने का काम साम्प्रदायिक प्रयोजन से प्रेरित होकर टीकाकारों ने किया है। वह प्रयोजन था साधुओं के प्रकरण में 'अचेलक' शब्द के **सर्वथा निर्वस्त्र** (किसी भी प्रकार के वस्त्र से रहित) अर्थ को मिथ्या सिद्ध कर श्वेताम्बरमत को तीर्थंकर-प्रणीत एवं दिगम्बरमत को अतीर्थंकर-प्रणीत-निह्नवमत ठहराना।

३.९. सचेल के लिए अचेल-शब्दव्यवहार शंका-विमोहजनक

सचेल साधु के लिए 'अचेल' या 'अचेलक' शब्द का व्यवहार शंकोत्पादक है। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि सचेल साधु तो वस्त्रधारी साधु का नाम है, उसे अचेल क्यों कहा गया है। यह शंकोत्पादक शब्दव्यवहार सम्पूर्ण जिनवचनों में अश्रद्धा उत्पन्न करने का कारण होता है। और अज्ञानीजन इसे तीर्थंकरवचन समझकर विमूढ़ भी हो सकते हैं। तीर्थंकर इस तरह के शंका-विमोहोत्पादक शब्द का व्यवहार नहीं कर सकते। अतः सिद्ध है कि सचेल साधु के लिए 'अचेल' शब्द का व्यवहार तीर्थंकरोपदिष्ट नहीं है।

३.१०. साधुओं के लिए महामूल्य-वस्त्रधारण का उपदेश असंभव

टीकाकारों ने जो यह व्याख्या की है कि आगम में श्वेत-जीर्ण-अल्पमूल्य-वस्त्रधारी साधु को **अचेल** और महामूल्य-विविधवर्ण-वस्त्रधारी साधु को **सचेल** शब्द से अभिहित किया गया है, इस व्याख्या ने तो तीर्थंकर महावीर के 'निर्ग्रन्थ' शब्द का उपहास करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस व्याख्या से राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों, रईसों और जैनमुनियों में कोई फर्क ही नहीं रहा। इन व्याख्याकारों के अनुसार तो शरीर को एड़ी से चोटी तक रेशम और जरी के रंगबिरंगे महामूल्य वस्त्रों से सजाकर रखनेवाला भी अपरिग्रही जैन साधु कहला सकता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस पर टिप्पणी करते हुए माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य लिखते हैं—"इसका आशय यह हुआ कि पार्श्वनाथ के धर्म में साधुओं को महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र पहनने की अनुज्ञा थी। इस व्याख्या के अनुसार केशी (पार्श्वनाथ के शिष्य) अवश्य ही राजसी वस्त्रों में होंगे। फिर भी अचेल गौतम (महावीर के शिष्य) को पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के उस आचार्य को देखकर रंचमात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ, यह आश्चर्य है।

"असल में टीकाकारों ने 'संतरुत्तर' का यह अर्थ 'अचेल' शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखकर किया है। जब अचेल का अर्थ वस्त्राभाव के स्थान में क्रमशः कुत्सितचेल, अल्पचेल और अल्पमूल्यचेल किया गया, तो संतरुत्तर (सान्तरोत्तर) का अर्थ अपरिमित और महामूल्यवाले वस्त्र होना ही चाहिए था। किन्तु यह अर्थ करते समय टीकाकार यह शायद भूल ही गये कि आचारांगसूत्र २०९ में भी 'संतरुत्तर' पद आया है और वहाँ उसका अर्थ क्या लिया गया है?" (जै.सा.इ./पू.पी./पृ. ३९७)।

आचारांग के सूत्र २०९ (अध्याय ७, उद्देशक ४) की व्याख्या में आचार्य शीलांक ने एक ऐसे प्रावरणीय (चादर) को सान्तरोत्तर कहा है जो आवश्यकता पड़ने पर ओढ़ लिया जाय और आवश्यकता न रहने पर पास में रख लिया जाय। यह पूर्व (अध्याय ३/प्र.१/शी.६) में स्पष्ट किया जा चुका है। इस तरह सान्तरोत्तर का 'बहुमूल्य रंगीन वस्त्र सहित' यह अर्थ करना आचारांग के ही अनुसार अप्रामाणिक है।

सचेल या सान्तरोत्तर का 'शरीरप्रमाणाधिक बहुमूल्य, रंगीन वस्त्रों से सहित' अर्थ करने से एक प्रश्न और खड़ा होता है। वह यह कि मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने किसी साधु के लिए सफेद रंग के फटे-पुराने अल्पवस्त्र तथा किसी के लिए बहुमूल्य रंग-बिरंगे पर्याप्त वस्त्र धारण करने का विधान क्यों किया? क्या इस वस्त्रभेद से मोक्षसाधना में कोई फर्क पड़ता है? शीतादिपरीषह-पीड़ा का निवारण तो किसी भी रंग के फटे-पुराने कपड़े पहनने से हो सकता है, फिर किन्हीं साधुओं के लिए रंगबिरंगे वेशकीमती वस्त्र पहनने की छूट देने का कारण क्या है? क्या महामूल्य रंगीन वस्त्र पहनने से संयम, ध्यान, अध्ययन आदि की साधना और अच्छी तरह सम्पन्न होती है? इस प्रश्न का कोई समाधान उपलब्ध नहीं है और भगवान् का कोई भी उपदेश ऐसा हो नहीं सकता, जिसके पीछे कोई युक्ति न हो। किन्तु, इस वस्त्रभेद के पीछे कोई युक्ति नहीं है, इससे सिद्ध है कि अचेल और सचेल की उपर्युक्त व्याख्याएँ अशास्त्रप्रसिद्ध एवं अलोकप्रसिद्ध हैं।

श्वेताम्बरसंघ आरंभ से ही श्वेतवस्त्र, श्वेतपट, श्वेताम्बर और सिताम्बर नामों से प्रसिद्ध है। ये नाम ही श्वेताम्बरसम्प्रदाय की इस विशिष्टता का उद्घोष करते हैं

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कि श्वेतवस्त्र ही श्वेताम्बर साधुओं और साध्वियों का सम्प्रदायगत या लिंगगत वेश है। अत: 'सचेल' शब्द को 'बहुमूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी' अर्थात् 'रंगबिरंगे कीमती वस्त्रधारी साधु' अर्थ का प्रतिपादक मानना श्वेताम्बरसम्प्रदाय के नाम और साधुओं के शरीरशृंगार में राग के अभाव तथा अपरिग्रहमहाव्रत को सन्देहास्पद बना देता है। अत: 'सचेल' शब्द का उपर्युक्त अर्थ प्रामाणिक नहीं है।

३.११. 'नग्न' विशेषण के 'सर्वथा निर्वस्त्र' और 'अल्पवस्त्रयुक्त,' दो अर्थ असंभव

यद्यपि 'आचारांग' और 'स्थानांग' में **अचेल** शब्द का अर्थ **सर्वथा निर्वस्त्र** (अनावृत-सर्वांग) ही बतलाया गया है, तथापि व्याकरण के अनुसार 'अल्प' अर्थ सूचित करने के लिए भी 'अ' (नञ्) के साथ 'चेल' शब्द का समास होता है, तब जो 'अचेल' शब्द बनता है, उसका अर्थ 'अल्पचेल' भी होता है। किन्तु 'नग्न' विशेषण का अल्पार्थक 'अ' (नञ्) के साथ समास नहीं है, इसलिए उसका **सर्वथा निर्वस्त्र** अथवा **अनावृत-गुह्यांगवाला** अर्थ ही संभव है, **अल्पवस्त्रयुक्त** अर्थ नहीं। अत: 'तत्त्वार्थसूत्र' में साधुओं के लिए जो नाग्न्यपरीषहजय आवश्यक बतलाया गया है, उसमें **नग्न** विशेषण से **सर्वथा निर्वस्त्र** अर्थात् **अनावृत-सर्वांगवाला** अर्थ ही प्रतिपादित होता है, **अल्पवस्त्रयुक्त** अर्थ नहीं। इसी प्रकार श्री संघदासगणी ने मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के प्रसंग में 'अचेल' विशेषण को 'नग्न' का पर्यायवाची बतलाया है, अत: यहाँ भी वह 'सर्वथा निर्वस्त्र' (अनावृत-सर्वाङ्ग) अर्थ का ही प्रतिपादक है, 'अल्पवस्त्रयुक्त' अर्थ का नहीं। फलस्वरूप 'नग्न' विशेषण तीर्थंकरों के साथ प्रयुक्त होने पर उनके सर्वथा निर्वस्त्र होने की विशेषता बतलाये और साधुओं के साथ प्रयुक्त होने पर उनके अल्पवस्त्रयुक्त होने का वैशिष्ट्य प्ररूपित करे, यह संभव नहीं है। जैसे 'काला' विशेषण कौए के साथ प्रयुक्त होने पर उसके काले होने की विशेषता बतलाये और बगुले के साथ प्रयुक्त कर देने पर उसके सफेद होने की विशेषता बतलाये, यह संभव नहीं है, जैसे 'सुन्दर' विशेषण सुन्दर मनुष्य के साथ संयुक्त होने पर उसके सुन्दर होने का गुण बतलाये और कुरूप मनुष्य के साथ संयुक्तकर देने पर उसके कुरूप होने का गुण बतलाये, यह संभव नहीं है, वैसे ही 'नग्न' विशेषण सर्वथा निर्वस्त्र पुरुष के साथ व्यवहृत होने पर उसके सर्वथा निर्वस्त्र होने का धर्म सूचित करे और अल्पवस्त्रयुक्त के साथ व्यवहृत होने पर उसके अल्पवस्त्रयुक्त होने का धर्म प्ररूपित करे, यह संभव नहीं है। अत: जैसे तीर्थंकरों को नग्न कहने से उनका सर्वथा निर्वस्त्र होना सूचित होता है, वैसे ही साधुओं को नग्न कहने से उनका भी सर्वथा निर्वस्त्र होना सूचित होता है। अल्पार्थक नञ् (अ) के साथ जिसका समास नहीं है, उस 'नग्न' विशेषण का इसके अलावा और कोई अर्थ नहीं हो सकता। और कोई अर्थ बतलाना तीर्थंकरों को अयुक्तिमत् उपदेश देने का दोषी ठहराना है। तीर्थंकरों के वचन अयुक्तिमत् नहीं

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हो सकते। युक्तिमत् वचन ही आप्तवचन होता है, अतः वही ग्राह्य है, जैसा कि श्री हरिभद्रसूरि ने **लोकतत्त्वनिर्णय** में कहा है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ ३८॥

३.१२. सर्वसंकरत्व-दोष की उत्पत्ति

नग्न शब्द नग्न (खुले हुए गुह्यांगवाला) और **अनग्न** (ढँके हुए गुह्यांगवाला), इन परस्परविरुद्ध दो अर्थों का वाचक नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो, तो **अधर्म** शब्द **अधर्म** और **धर्म** दोनों अर्थों का वाचक सिद्ध होगा, **पाप** शब्द **पाप** और **पुण्य** दोनों अर्थों का प्रतिपादक ठहरेगा। तब लोग अधर्म करते हुए भी अपने को धार्मिक मानने लगेंगे, पाप करते हुए भी स्वयं को पुण्यकर्त्ता समझने लगेंगे। 'नग्न' शब्द को उपर्युक्त परस्परविरुद्ध दो अर्थों का प्रतिादक मानने पर 'सम्यग्दर्शन' शब्द सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन दोनों अर्थों का वाचक सिद्ध होगा, 'सम्यग्ज्ञान' शब्द सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों अर्थों का प्रतिपादक साबित होगा, 'सम्यक्चारित्र' शब्द सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र दोनों अर्थों का प्ररूपक ठहरेगा। इस तरह मोक्षमार्ग शब्द 'संसारमार्ग' अर्थ का भी वाचक बन जायेगा। 'जीव' शब्द 'पुद्गल' अर्थ का भी प्रतिपादक हो जायेगा। इससे जीवादि नौ पदार्थों में कोई भेद नहीं रहेगा, सर्वसंकर-दोष की उत्पत्ति हो जायेगी, जीवादि पदार्थों के भिन्न-भिन्न लक्षण निरर्थक सिद्ध होंगे। फलस्वरूप सम्यग्दर्शन का आधारभूत भेदविज्ञान असंभव हो जायेगा और जीव मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि और संसारी का संसारी बना रहेगा। इस तरह 'नग्न' शब्द को नग्न (खुले हुए गुह्यांगवाला) तथा अनग्न (ढँके हुए गुह्यांगवाला), इन परस्परविरुद्ध दो अर्थों का वाचक मानने पर उपर्युक्त तात्त्विक अव्यवस्था पैदा हो जायेगी, जो जिनेन्द्र को अभीष्ट नहीं हो सकती थी। अतः सिद्ध है कि **नग्न** शब्द को **नग्न** और **अनग्न**, इन दो परस्परविरुद्ध अर्थों का वाचक मानना जिनोपदिष्ट नहीं है।

३.१३. स्वमत को तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्ध करने हेतु 'अचेलक' शब्द का विपरीतार्थ-प्ररूपण

श्री जिनभद्रगणी आदि ने जो 'अचेलक' शब्द का विपरीतार्थ-प्ररूपण करनेवाली पूर्वोद्धृत गाथाएँ रची हैं, उनसे यह महान् रहस्य उद्घाटित होता है कि उनके सामने श्वेताम्बरमत को तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्ध करने का यही एकमात्र उपाय था। 'अचेलक' शब्द का सत्यार्थरूप में प्ररूपण उनके इस प्रयोजन की सिद्धि में बाधक था। तीर्थंकर महावीर लोक में अचेलकधर्म के उपदेष्टा के रूप में प्रसिद्ध थे और **अचेलक** शब्द का **सर्वथानिर्वस्त्र** अर्थ भी आगमप्रसिद्ध और लोकप्रसिद्ध था। तथा जो अचेलक साधु

श्वेतवस्त्र धारण करने लगे थे, वे ही श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हुए थे, इसका भी लोक साक्षी था। अतः इस सचेलकवेश में वे तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म के अनुयायी साधु सिद्ध नहीं हो सकते थे। और लोकमान्यता के विरुद्ध जाकर वे महावीर को सचेलकधर्म का उपदेशक घोषित कर नहीं सकते थे, तथा महावीर के नाम को छोड़ भी नहीं सकते थे। क्योंकि महावीर के नाम को छोड़ देने से उनका मत अतीर्थंकर-प्रणीत सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। वे बड़ी उलझन में पड़ गये। जैसे गर्म दूध के घूँट को न निगल सकते हैं, न उगल सकते हैं, वैसे ही वे महावीर को न तो सचेलकधर्म का उपदेष्टा घोषित कर सकते थे, न ही उनके नाम को छोड़ सकते थे। इस उलझन से छुटकारा पाने के लिए उनके सामने एक ही रास्ता था। वह था 'अचेलक' शब्द को ज्यों का त्यों स्वीकार कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करना कि 'अचेलक' शब्द 'सर्वथा वस्त्ररहित' (नग्न) अर्थ का वाचक नहीं है, अपितु 'जीर्ण-शीर्ण-अल्प-श्वेतवस्त्रधारी' अर्थ का वाचक है। इससे भगवान् महावीर को अचेलकधर्म का उपदेष्टा कहते हुए भी यह सिद्ध किया जा सकेगा कि वे वास्तव में सचेलधर्म के उपदेशक थे। ऐसा करने से इतना ही महत्त्वपूर्ण एक और प्रयोजन सिद्ध होता था। वह यह कि तीर्थंकर महावीर के सचेलकधर्म के उपदेशक सिद्ध हो जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि अचेलकधर्मानुयायी दिगम्बरजैनमत अतीर्थंकर-प्रणीत निह्नवमत है। इन्हीं दो प्रयोजनों से वे गाथाएँ रची गयीं। किन्तु उन गाथाओं को रचते समय श्री जिनभद्रगणी आदि आचार्य यह भूल गये कि संस्कृत-प्राकृत का कोई भी ज्ञाता 'अचेलक' शब्द के उक्त अर्थ पर विश्वास नहीं करेगा और वह अर्थ मिथ्या होने से तीर्थंकर के वचन अविश्वसनीय सिद्ध होंगे।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आगम में सचेल साधु के लिए 'अचेल' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर-टीकाकारों ने 'अचेल' शब्द पर 'सचेल' अर्थ का आरोप किया है, जिससे 'अचेल' शब्द के 'नग्न' अर्थ को झूठा सिद्ध कर श्वेताम्बरमत को तीर्थंकरोपदिष्ट तथा दिगम्बरजैनमत को तीर्थंकरों द्वारा अनुपदिष्ट सिद्ध किया जा सके। उपर्युक्त प्रमाणों से उनका यह अभिप्राय निर्वस्त्र हो जाता है।

श्वेताम्बरपरम्परा को तीर्थंकरप्रणीत और दिगम्बरपरम्परा को अतीर्थंकरप्रणीत सिद्ध करने के लिए 'अचेलक' और 'सचेलक' शब्दों की ऐसी अप्रामाणिक (अतीर्थंकरवचन-भूत) व्याख्याएँ करने का प्रयत्न ही इस बात का बलिष्ठ प्रमाण है कि श्वेताम्बरसाहित्य दिगम्बरपरम्परा से सुपरिचित है, जो दिगम्बरपरम्परा की पूर्ववर्तिता का सबूत है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

लोक में भी सचेल मनुष्य के लिए 'नग्न' शब्द का व्यवहार रूढ़ (प्रसिद्ध) नहीं है तथा कदाचित् सचेल के लिए जो 'नग्न' शब्द का प्रयोग उपचार से किया जाता है, वह सचेल अर्थ का वाचक नहीं होता, बल्कि 'निर्लज्ज,' 'दरिद्र' आदि अर्थों का द्योतक होता है। इन तथ्यों का प्ररूपण आगे स्वतंत्र शीर्षकों (क्र.४ एवं ५) के साथ किया जा रहा है।

४

लोक में भी सचेल के लिए 'नग्न' शब्द का व्यवहार अप्रसिद्ध

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण एवं श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण ने निम्नलिखित दो दृष्टान्तों से यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि लोक में सचेल मनुष्यों के लिए 'अचेलक' या 'नग्न' शब्द का व्यवहार रूढ़ (प्रसिद्ध) है—

१. "जैसे कोई पुरुष नदी पार करते समय भीग जाने के भय से कटिवस्त्र उतारकर सिर पर लपेट लेता है, तो उसके द्वारा वस्त्र का उपभोग किये जाने पर भी लोग उसे अचेल (नग्न) कहते हैं, वैसे ही मुनि वस्त्रधारण करते हुए भी अचेल कहलाते हैं।" (विशे.भा / गा. २६००)।

२. "जैसे कोई बहुछिद्रयुक्त पुरानी साड़ी पहने हुई स्त्री जुलाहे के पास जाकर कहती है कि मुझे शीघ्र नयी साड़ी बुनकर दो, मैं नंगी हूँ, वैसे ही अल्प, जीर्ण और मैले-कुचैले वस्त्र धारण करनेवाले साधु को भी नग्न कहा जाता है।" (विशे.भा./ गा.२६०१)।

दोनों दृष्टान्त अप्रामाणिक

ये दोनों दृष्टान्त अप्रामाणिक हैं, क्योंकि इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि सचेल पुरुष या स्त्री को दुनिया के सभी लोग 'नग्न' कहते और समझते हैं। जो पुरुष कटिवस्त्र (धोती) को उतारकर सिर पर लपेट लेता है और नग्न अवस्था में नदी पार करता है, वह वास्तव में नग्न होता है, क्योंकि उसके गुह्यांग खुले रहते हैं। अतः लोग उसे नग्न होने के कारण ही नग्न कहते हैं, सिर पर कटिवस्त्र लपेट लेने के कारण नहीं। इससे सिद्ध है कि वस्त्रधारी के लिए नग्न शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध नहीं है, अपितु नग्न के लिए ही 'नग्न' शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध है।

तथा बहुछिद्रयुक्त साड़ी पहने हुई स्त्री जुलाहे के पास जाकर स्वयं को नग्न इसलिए नहीं कहती कि छिद्रयुक्त साड़ी पहने हुई स्त्री के लिए 'नग्न' शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध है अर्थात् लोक के सभी मनुष्य बहुछिद्रयुक्त-साड़ीधारी स्त्री को नग्न कहते और समझते हैं, बल्कि इसलिए कहती है कि वैसी साड़ी पहनने में उसे

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

लज्जा का अनुभव होता है, अतः वह मूल्य लेकर भी साड़ी बनाने में देर करनेवाले जुलाहे से शीघ्रता कराना चाहती है।[२७]

दूसरे लोग उसे नग्न नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ, उस स्त्री के स्वयं को नग्न कहने पर यदि जुलाहे के उत्तर की कल्पना की जाय, तो वह उत्तर देता कि "तुम नग्न होतीं, तो अपने घर से निकलकर यहाँ तक न आतीं। लोग तुम्हें पगली कहते और ले जाकर घर में बन्द कर देते। नग्न अवस्था में तो कोई गणिका भी घर से बाहर नहीं निकलती।" इसी प्रकार यदि कोई बालक दूसरे बालक से कहता कि "देखो, वह स्त्री नग्न है", तो दूसरे बालक को हँसी आ जाती और कहता कि "तुम्हें 'नग्न' शब्द का अर्थ नहीं मालूम। नग्न उसे कहते हैं, जिसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं होता। वह स्त्री तो साड़ी पहने हुई है। भले ही बहुछिद्रयुक्त है, फिर भी पहनने लायक है अर्थात् जिन अंगों को ढँके बिना घर से बाहर निकलना संभव नहीं है, वे ढँके हुए हैं। इसलिए वह नग्न नहीं है।"

इसी तरह किसी चोलपट्टधारी श्वेताम्बर साधु को देखकर कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य से कहे कि "देखो, दिगम्बरसाधु जा रहे हैं," तो वह भी हँस पड़ेगा और कहेगा कि "तुम अन्धे हो। ये साधु तो वस्त्र पहने हुए हैं, तुम इन्हें दिगम्बर कहते हो? ये तो श्वेताम्बर साधु हैं। दिगम्बर साधु तो नग्न होते हैं।"

इन दृष्टान्तों से सिद्ध है कि लोक में 'नग्न' शब्द सवस्त्र मनुष्य के लिए प्रसिद्ध नहीं है। यदि होता तो श्वेताम्बर ओर दिगम्बर साधुओं में भेद बतलाना असम्भव हो जाता।

लोक में उसी मनुष्य को नग्न कहा जाता है, जिसका कटिप्रदेश वस्त्र से आच्छादित न हो। यदि किसी पुरुष का शरीर मस्तक से नाभि तक और चरणों से घुटनों तक वस्त्र से ढँका है, किन्तु कटिभाग उघड़ा है, जिससे गोपनीय अंग दिखाई देते हैं, तो लोक में वह नग्न ही कहा जाता है। इसके विपरीत यदि गुह्यांग आच्छादित हैं और सम्पूर्ण शरीर उघड़ा है, तो वह नग्न नहीं कहा जाता। हाँ, गुह्यांगों के आवृत होने पर अन्य अंगों की अनावृतता दर्शाने के लिए उन्हीं अंगों को नंगा कहा जाता है, जैसे नंगे सिर (टोपी, साफा आदि से रहित), नंगे पाँव (जूते-चप्पल से रहित) नंगी छाती, नंगी पीठ, नंगी जाँघ आदि। यहाँ तक कि 'नंगी आँखों से चन्द्र-ग्रहण नहीं देखना चाहिए' ऐसा भी कहा जाता है। लेकिन जिसका गुह्यप्रदेश अनावृत हो

२७. "यथा वा काचिदविरतिका परिजीर्णवस्त्रपरिधाना प्राक्समर्पितवेतनं तन्तुवायं शाटिका-निष्पादनालसं ब्रवीति, यथा—जीर्णवस्त्रैः परिहितैर्नग्निकाऽहमस्मि ततस्त्वरस्व हे शलिक! तन्तुवाय! देहि मे पोतिकां शाटिकाम्।" क्षेमकीर्तिवृत्ति / बृहत्कल्पसूत्र / भाष्यगाथा ६३६६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उसके गुह्यप्रदेश को नंगा नहीं कहते, बल्कि उस मनुष्य को ही नंगा कहते हैं, इससे सिद्ध है कि मनुष्य के नग्न कहे जाने का हेतु उसके गुह्यप्रदेश का अनावृत होना ही है। श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय धर्मसागर जी लिखते हैं कि वस्त्रधारण करने का प्रमुख उद्देश्य असभ्य अवयवों अर्थात् गुह्यांगों का गोपन ही है—"**लोकैरपि वस्त्रपरिधानं मुख्यवृत्या असभ्यावयवगोपननिमित्तमेव क्रियते।**" (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३१/पृ.९३)।

असभ्य अवयवों के गोपन से लज्जारूप मानवधर्म या लोकानुवृत्तिधर्म का पालन होता है—"**वस्त्रधरणे लोकानुवृत्तिधर्मः---स्यात्।**" (प्रव.परी./१/२/३०/पृ.९१)। इसलिए वस्त्र भले ही छोटा (स्तोक), पुराना (जीर्ण) और मैलाकुचैला (कुत्सित) हो, उससे यदि असभ्य अवयवों का गोपन होता है और लज्जारूप मानवधर्म की रक्षा होती है, तो उसके धारण के बाद मनुष्य के नग्न कहे जाने का कोई कारण नहीं रहता। इसीलिए स्वयं श्वेताम्बरग्रन्थों में श्वेतपट साधुओं को अल्प, जीर्ण और कुत्सित वस्त्र धारण करनेवाला कहा गया है, किन्तु नग्न, निर्लज्ज या बीभत्स शब्दों से सम्बोधित नहीं किया गया। इसके विपरीत दिगम्बरजैन मुनियों को नग्न, नग्नाट, लज्जाहीन, बीभत्स, भण्डिकचेष्टाकारी आदि उपाधियाँ दी गयी हैं। यथा—"वयं पृच्छामः-भो **नग्नाट**! निजशरीरे तव मूर्च्छास्ति न वा?" (प्रव.परी./वृत्ति १/२/६/पृ.७१)। अयं **पापात्मा** कुलवधूनामप्यवाच्यं दर्शयन् न **लज्जते**। --- नग्नरूपतया **बीभत्सं** त्वदीयं शरीरमेव। (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/६/पृ.७३)। नग्नस्य ते वेश्यादिजनोपान्त एवोपवेशनादिकं युक्तं, **भण्डिकचेष्टायाः** तत्रैव युक्तत्वात्। (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३०/पृ.९५)। यः --- गोपनीय-लिङ्गोपस्थादिकं दर्शयति तस्य पार्श्वे यदि 'धर्मः' धर्मप्राप्तिः स्यात् तर्हि कुत्रान्यत्राधर्मः? --- हे नग्नाट! **त्वमेव पापात्मा मूर्तिमानधर्म एव।**" (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/४२/पृ.१०३-१०४)।

वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों में भी श्वेताम्बर साधुओं के लिए **नग्न** और **अह्रीक** (निर्लज्ज) शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु निर्ग्रन्थों (दिगम्बरजैन साधुओं) को सर्वत्र **नग्न** और **अह्रीक** विशेषणों के साथ वर्णित किया गया है। लोक में पहलवान केवल लँगोट पहन कर सार्वजनिकरूप से कुश्ती का प्रदर्शन करते हैं, उन्हें कोई भी नग्न नहीं कहता। वैदिक सम्प्रदाय के अनेक संन्यासी कौपीन मात्र धारण करते हैं, उन्हें भी कोई नग्न नहीं मानता। दिगम्बरजैन एलकपदस्थ श्रावक भी केवल लँगोटधारी होते हैं, वे भी नग्न नहीं कहे जाते, किन्तु दिगम्बरजैन मुनि को हर कोई नग्न कहता है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि लोक में गुह्यांग-गोपन न करनेवाले को ही नग्न कहा जाता है। अतः जिनभद्रगणी जी का यह कथन अप्रामाणिक है कि लोक में अल्प, जीर्ण और मैलेकुचैले वस्त्रधारण करनेवालों के लिए भी 'नग्न' शब्द रूढ़ है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

'रूढ़' का अर्थ है सर्वमान्य या सर्वजनप्रसिद्ध, जैसे 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है 'कुशों को तोड़कर लानेवाला', किन्तु वह 'दक्ष' अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) है, अर्थात् सभी लोग उससे 'दक्ष' अर्थ ही ग्रहण करते हैं, 'कुश तोड़कर लानेवाला' अर्थ नहीं। अतः **'चित्रकला में कुशल'** इस वाक्य को पढ़-सुनकर सभी समझ जाते हैं कि इसका अर्थ है चित्र कला में दक्ष। किन्तु **'मैंने मार्ग में एक नग्न मनुष्य को देखा है'** ऐसा कहने पर कोई भी श्रोता यह नहीं समझ पायेगा कि मैंने एक फटे-पुराने या अल्प वस्त्रधारी मनुष्य को देखा है। सभी यह अर्थ ग्रहण करेंगे कि मैंने एक निर्वस्त्र अर्थात् खुले गुह्यांगवाले मनुष्य को देखा है। इससे सिद्ध है कि 'नग्न' शब्द फटे-पुराने या अल्प वस्त्रधारी मनुष्य के अर्थ में रूढ़ नहीं है, अपितु निर्वस्त्र मनुष्य के ही अर्थ में प्रसिद्ध है।

४.१. रूढ़ार्थ द्वारा मूलमुख्यार्थ का निरसन

यह ध्यान देने योग्य है कि जब कोई शब्द अपने व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ से अर्थात् मूल मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ में रूढ़ या प्रचलित हो जाता है, तब उसका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ (मूल मुख्यार्थ) अप्रचलित हो जाता है। जैसे 'कुशल' शब्द 'दक्ष' अर्थ में रूढ़ हुआ, तो उसका 'कुश तोड़कर लानेवाला' व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ अर्थात् मूलमुख्यार्थ अप्रचलित हो गया। 'तेल' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है तिल से निकला हुआ स्निग्ध द्रव, किन्तु वह मूँगफली, सरसों, अलसी, सोयाबीन, नारियल आदि सभी पदार्थों से निकले हुए स्निग्ध द्रव के अर्थ में रूढ़ हो गया। परिणामस्वरूप उसके व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ का प्रचलन बन्द हो गया और 'तेल लाओ' कहने से यह समझना असंभव हो गया कि तिल से निकले हुए स्निग्ध द्रव को लाने के लिए कहा जा रहा है, अतः इस अर्थ को समझाने के लिए 'तिल का तेल लाओ' यह कहना आवश्यक हो गया। 'रुपया' (रूप्यम्) शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ रूप्य (चाँदी) से बना हुआ सिक्का है, किन्तु अब स्टील से बने हुए सिक्के और कागज से बने हुए नोटों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। अतः इसका 'चाँदी से बना हुआ सिक्का' अर्थ अप्रचलित हो गया। इसी प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार सभी पशुओं का वाचक 'मृग' शब्द 'हिरण' अर्थ में रूढ़ होने पर सभी पशुओं का वाचक नहीं रहा। 'सिंह' शब्द 'हिंस्' धातु से वर्ण-विपर्ययपूर्वक व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है कोई भी हिंसक प्राणी। किन्तु उसमें 'सिंह' नामक सर्वाधिक क्रूर और पराक्रमी पशु का अर्थ रूढ़ हो गया, जिससे उसने सभी हिंसक पशुओं के अर्थ का वाचकत्व खो दिया। 'गो' शब्द 'गच्छति अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'गम्' धातु से निष्पन्न है और मूलतः 'गमन के साधन' अर्थ का वाचक है, किन्तु 'गाय' अर्थ में रूढ़ हो जाने पर मूल अर्थ के वाचकत्व से हाथ धो बैठा। ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

रूढ़ार्थ शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ अर्थात् मूल मुख्यार्थ के अप्रचलित हो जाने से ही अनेक वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों ने रूढ़ार्थ को ही मुख्यार्थ कहा है। **काव्यानुशासन** के कर्त्ता प्रसिद्ध श्वेताम्बर वैयाकरण एवं काव्यशास्त्री 'कलिकालसर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) लिखते हैं—

"**कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्सङ्केतविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढिर्लक्ष्य-स्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता।**"[२८]

अनुवाद—"कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के क्रमशः दक्ष, भ्रमर, काक (कौआ) आदि अर्थ (रूढ़ = लोकप्रसिद्ध होने के कारण) साक्षात् संकेत के विषय होते हैं (मुख्यार्थबाध, तात्पर्यानुपपत्ति आदि के द्वारा उनका परम्परया बोध नहीं होता, साक्षात् बोध होता है), अतः वे मुख्यार्थ ही हैं (लक्ष्यार्थ नहीं)। इसीलिए हमने (आचार्य हेमचन्द्र ने) "**मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः**" (काव्यानु-शासन १/१५) इस सूत्र में 'रूढि' को लक्ष्यार्थ का हेतु नहीं बतलाया।"

अभिप्राय यह कि व्युत्पत्ति के अनुसार 'कुशल' शब्द का अर्थ है 'कुश तोड़कर लाने वाला व्यक्ति', द्विरेफ का अर्थ है 'दो रेफ या दो रकारवाला शब्द' जैसे रुचिर, 'भ्रमर' आदि शब्द तथा 'द्विक' का अर्थ है 'दो ककारवाला शब्द' जैसे 'कनक', 'काक' (कौआ) आदि शब्द। किन्तु ये शब्द क्रमशः दक्ष व्यक्ति, भ्रमर-नामक प्राणी एवं काक-नामक पक्षी के अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) हैं, अतः मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों का मत है कि 'कुशल' आदि शब्दों का मुख्यार्थ (व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ) बाधित होने पर उनसे 'दक्ष' आदि अर्थों का बोध होता है, अतः 'दक्ष' आदि अर्थ लक्ष्यार्थ हैं।

आचार्य हेमचन्द्र आदि वैयाकरण एवं काव्यशास्त्री इससे असहमत हैं। उनका कथन है कि शब्द का जो अर्थ रूढ़ या प्रसिद्ध होता है, वही साक्षात् संकेत का विषय होता है, अर्थात् उसी अर्थ की उस शब्द से बिना किसी व्यवधान के प्रतीति होती है। अतः रूढ़ार्थ ही मुख्यार्थ होता है। इसलिए यदि रूढ़ार्थ को लक्ष्यार्थ भी माना जाय तो अतिप्रसंगदोष उत्पन्न होगा।[२९]

वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों द्वारा रूढ़ार्थ को ही मुख्यार्थ माने जाने से सिद्ध है कि जिस शब्द में कोई अन्य अर्थ रूढ़ हो जाता है, उसका व्युत्पत्ति-मूलक मुख्यार्थ

---

२८. काव्यानुशासन-स्वोपज्ञटीका/अध्याय १/सूत्र १६—"मुख्यार्थसम्बद्धस्तत्त्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः।"

२९. "इदमेव हि शब्दानां मुख्यानां मुख्यत्वं यत्साक्षात् सङ्केतविषयत्वम्। सङ्केते च रूढिरेव कारणम्। ततो यदि रूढिमपेक्ष्य लक्षणा प्रवर्तेत तदातिप्रसङ्गः स्यादिति।" शिवदत्त-काशीनाथकृत व्याख्या/काव्यानुशासन/अध्याय १/सूत्र १४—"साक्षात्सङ्केतविषयो मुख्यः।"

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अप्रचलित हो जाता है। अतः 'नग्न' शब्द यदि जीर्ण-शीर्ण या अल्पवस्त्रधारी के अर्थ में रूढ़ हुआ होता, तो उसका निर्वस्त्ररूप अर्थ अप्रचलित हो जाता, किन्तु वह अप्रचलित नहीं हुआ। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि नग्न शब्द के निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ के प्रचलित होने से ही दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों का भेद प्रचलित है। इससे सिद्ध है कि 'नग्न' शब्द सवस्त्ररूप अर्थ में रूढ़ नहीं है। अतः श्री जिनभद्रगणी का यह कथन सत्य नहीं है कि सचेल पुरुष या स्त्री के लिए भी 'नग्न' शब्द का प्रयोग आगम और लोक में रूढ़ है।

४.२. नाग्न्यपरीषह के अयुक्तियुक्त होने का प्रसंग

"यदि नग्न शब्द को 'सचेल' अर्थ में रूढ़ माना जाय, तो नाग्न्यपरीषह को सचेलत्वपरीषह मानना होगा। किन्तु सचेलमुनि को सचेलत्व परीषह संभव नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बरशास्त्रों में वस्त्रधारण को तो ह्री, जुगुप्सा और शीतादि परीषहों के निवारण, लिंगोत्थान के प्रच्छादन एवं संयम की रक्षा का साधन माना गया है।[३०] अतः जो सचेलत्व, परीषह-निवारण का उपाय है, वह परीषह का कारण नहीं हो सकता। फलस्वरूप नाग्न्यपरीषह को सचेलत्वपरीषह मानने से और सचेलत्वपरीषह के संभव न होने से आगम में नाग्न्यपरीषह का उल्लेख अयुक्तिसंगत सिद्ध होता है। उसके उल्लेख की युक्तिसंगतता 'नग्न' शब्द को 'निर्वस्त्र' का ही वाचक मानने से सिद्ध होती है। अतः सिद्ध है कि 'नग्न' शब्द सचेल-अर्थ में रूढ़ नहीं है।

५

मलधारी हेमचन्द्रसूरि के मत की अयुक्तिमत्ता

उपचरित 'नग्न' शब्द दरिद्रादि अर्थ का प्रतिपादक

विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता जिनभद्रगणी जी का कथन है कि सवस्त्र स्त्री या पुरुष को नग्न कहना लोकरूढ़ व्यवहार है, किन्तु वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि कहते हैं कि यह उपचार है। (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक ३.२)। उपचार लोकरूढ़ता के विरुद्ध होता है। सचेल साधु को उपचार से अचेल कहना संभव नहीं है। सचेल को उपचार से अचेल कहने पर 'अचेल' का अर्थ बदल जाता है। वह 'नग्न' अर्थ का वाचक न रहकर निर्लज्ज, असभ्य, दरिद्र आदि अर्थों का प्रतिपादक हो जाता है। उपचार के कुछ नियम होते हैं। वह किसी निमित्त या प्रयोजन के होने पर ही प्रवृत्त होता है और उपचरित शब्द से वही अर्थ व्यक्त हो सकता है, जो उसके मुख्यार्थ

---

३०. देखिये, आगे शीर्षक ४ एवं ५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से सम्बद्ध हो, कोई भी अर्थ नहीं। यह उपचार के अर्थ और उसके नियमों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। नीचे उन पर प्रकाश डाला जा रहा है—

५.१. उपचार का अर्थ

आलापपद्धतिकार आचार्य देवसेन ने उपचार का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—"**अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।**" (सूत्र २०७-२०८)।

अनुवाद—"किसी वस्तु पर अन्य वस्तु में प्रसिद्ध धर्म का आरोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूतव्यवहार ही उपचार कहलाता है।"

मीमांसक मुकुलभट्ट ने **अभिधावृत्तिमातृका** (पृष्ठ ७-८) में उपचार का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

"द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावे-नोपमानगत-गुणसदृश-गुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया **वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते।** यथा 'आयुर्घृतम्' इति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारण-भावलक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वकार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।"

"गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगत-गुणसदृशगुण-योगलक्षणां **पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते**। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् **गौणशब्देनाभिधीयते**। यथा 'गौर्वाहीकः' इति। अत्र ही गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृश-जाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः।"[३१]

अनुवाद—"उपचार दो प्रकार का होता है : शुद्ध और गौण। जहाँ मूलभूत उपमानोपमेयभाव का अभाव होने से उपमानगत गुणों के समान गुण-योग असम्भव होता है, वहाँ कार्यकारणभावादि-सम्बन्ध के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का उपचार किया जाता है, जैसे 'आयुर्घृतम्' (घी आयु है), यहाँ आयु और उसके कारणभूत घी इन दोनों में कार्यकारणभाव विद्यमान है, अतः घी में आयुष्ट्वकार्यरूप अर्थ तथा तद्वाचक शब्द दोनों का उपचार किया गया है। इसलिए यह शुद्धोपचार है।"

"जहाँ मूलभूत उपमानोपमेयभाव के होने से उपमानगत गुणों के समान गुणों का योग होता है, और इस कारण उपमेय पर उपमानशब्द तथा उसके अर्थ का अध्यारोप किया जाता है, वहाँ गौण उपचार होता है। वह उपमानशब्द गुणों के निमित्त से आरोपित

---

३१. मम्मटकृत काव्यप्रकाश की आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्या में उद्धृत / द्वितीय उल्लास / कारिका १०, सूत्र १३ / पृ.६० / प्रकाशक-ज्ञानमंडल वाराणसी / १९६० ई.।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

होने के कारण गौणशब्द कहलाता है। जैसे 'गौर्वाहीकः' (वाहीकदेशवासी पुरुष बैल है), यहाँ बैल में रहनेवाले जाड्य-मान्द्य आदि गुणों के समान जाड्यमान्द्य आदि गुणों का वाहीक में योग होने से उसमें बैल के वाचक गोशब्द और गोत्वरूप अर्थ का उपचार किया गया है।''

यहाँ भी अन्य वस्तु पर अन्य वस्तु या उसके धर्म का आरोप करने को उपचार नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के वाचक शब्द और अर्थ के आरोप को उपचार कहा गया है। **ये आरोपित शब्द और अर्थ गौण-शब्द और गौण-अर्थ अथवा उपचरित-शब्द और उपचरित-अर्थ कहलाते हैं।**

श्वेताम्बराचार्य वैयाकरण-काव्यशास्त्री हेमचन्द्र ने भी कहा है—''**मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः।**'' (काव्यानुशासन १/१५)। अर्थात् मुख्यार्थ का बाध तथा निमित्त और प्रयोजन के होने पर भेद और अभेदपूर्वक[३२] जो आरोपित किया जाता है वह **गौण अर्थ** कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र उपर्युक्त सूत्र की स्वोपज्ञवृत्ति में कहते हैं—''**गुणेभ्य आयतत्वाद्गौणः। तद्विषयः शब्दोऽपि गौणः उपचरित इति चोच्यते।**'' अर्थात् गुणों के निमित्त से आरोपित होने के कारण उसे गौण अर्थ कहते हैं। उस गौण अर्थ का विषयभूत शब्द भी गौण या उपचरित कहलाता है।

५.२. उपचार के नियम

उपचार के कुछ नियम होते हैं। उन नियमों के अनुसार जब किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के धर्म का आरोप किया जाता है, तभी वह उपचार कहलाता है। आचार्य देवसेन ने आलापपद्धति के निम्नलिखित सूत्र (२१२) में उपचार के नियमों का वर्णन किया है—

''**मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने चोपचारः प्रवर्तते।**''

अनुवाद—''वस्तु में जिस धर्म का उपचार किया जाना है, वह धर्म जब उस वस्तु में स्वभावतः न हो तथा उस धर्म के उपचार का कोई सादृश्यादिसम्बन्धरूप निमित्त हो और उपचार करने का कोई प्रयोजन भी हो, तभी उपचार प्रवृत्त होता है।''

जैसे 'यह बालक सिंह है' इस वाक्य में बालक पर सिंह के सिंहत्वरूप धर्म का आरोप किया गया है। बालक स्वभावतः सिंह नहीं है, किन्तु उसमें सिंह के क्रौर्यशौर्यादि गुणों के समान क्रौर्यशौर्यादि गुण हैं, जिनके कारण उस पर सिंहत्व का आरोप किया

३२. ''तत्र सादृश्ये निमित्ते भेदेनारोपितो यथा—'गौर्वाहीकः'। इदं वक्ष्यमाणरूपकालङ्कारस्य बीजम्। अभेदेन यथा—'गौरेवायम्' इति। इदमतिशयोक्तिप्रथमभेदस्य (बीजम्)।'' काव्यानुशासन-स्वोपज्ञवृत्ति १/१५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जा सकता है तथा उसमें क्रौर्यशौर्यादि का अतिशय बतलाना वक्ता का प्रयोजन भी है, अतः यह उपचार नियमानुरूप होने से उपचार संज्ञा पाता है। इनमें से एक भी नियम का उल्लंघन होने पर किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के धर्म का आरोप उपचार संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। उपचार के और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं, जैसे 'यह लड़का गधा है,' 'वह लड़की तो सरस्वती है,' 'आप मनुष्य नहीं देवता हैं', 'वह इंसान नहीं, शैतान है' इत्यादि। उपचार के ये उदाहरण भी उपर्युक्त तीनों नियमों पर आधारित हैं।

५.३. उपचरितशब्द का मुख्यार्थ असत्य, अत एव अग्राह्य

'यह बालक सिंह है' इस उदाहरण में बालक में सिंहशब्द का उपचार किया गया है, अतः यहाँ सिंहशब्द उपचरित है। यतः बालक को सिंह कहना असत्य है, अतः उपचरित शब्द का मुख्यार्थ असत्य होता है। 'उपचरित' विशेषण 'उपचरित' शब्द के मुख्यार्थ की असत्यता, बाधितता या अनुपपन्नता का सूचक है। अतः उपचरित शब्द का मुख्यार्थ अग्राह्य है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'सिंह' शब्द का सिंहनामक क्रूरपशुरूप मुख्यार्थ अग्राह्य है। इसी प्रकार किसी सवस्त्र स्त्री या पुरुष को उपचार से नग्न कहने पर 'नग्न' शब्द का निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ असत्य होता है, अतः वह अग्राह्य है।

५.४. उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ग्राह्य

यतः उपचरित शब्द का मुख्यार्थ असत्य होने से अग्राह्य होता है, अतः उपचरित शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए किया जाता है। उसे उपचरित अर्थ कहते हैं। मुख्यार्थ न होने से वह शब्द की अभिधाशक्ति द्वारा प्रतिपादित नहीं होता, अतः उसका प्रतिपादन लक्षणाशक्ति से होता है, इसलिए वह लक्ष्यार्थ भी कहलाता है। इसका प्ररूपण प्रसिद्ध काव्यशास्त्री मम्मट ने काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिका में किया है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ २/९॥

अनुवाद—"शब्द का जो मुख्यार्थ होता है, वह यदि बाधित या असंगत हो और उस मुख्यार्थ से किसी अन्य अर्थ का सम्बन्ध हो, तो रूढि अथवा प्रयोजनविशेष से वह अन्य अर्थ जिस शब्दशक्ति के द्वारा लक्षित किया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं।"

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यतः उपचरित शब्द के ही मुख्यार्थ का बाध होता है, मुख्य शब्द के मुख्यार्थ का नहीं, अतः उपर्युक्त कारिका में उपचरित शब्द के ही मुख्यार्थबाध की बात कही गई है और उपचरित शब्द के मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ के ही लक्षणा द्वारा बोध कराये जाने का कथन किया गया है। वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों के इस कथन से प्रमाणित है कि **उपचरित शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ से संयुक्त अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए ही किया जाता है।**

उदाहरणार्थ 'यह बालक सिंह है' इस उपचारकथन में 'सिंह' शब्द उपचरित है, अतः उसका सिंह-नामक-क्रूरपशुरूप मुख्यार्थ बाधित होता है। किन्तु उसके मुख्यार्थ के साथ क्रौर्यशौर्यादिगुण-युक्तरूप अन्य अर्थ सम्बद्ध है। बालक में भी सिंहसदृश क्रौर्यशौर्यादिगुण विद्यमान हैं। अतः इन गुणों की अपेक्षा बालक और सिंह में सादृश्यसम्बन्ध है। तथा वक्ता का प्रयोजन भी यह बतलाना है कि बालक में क्रौर्यशौर्यादि गुणों की अधिकता है। इस प्रयोजन से ही वक्ता बालक को उपचार से सिंह कहता है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है कि उपचरित शब्द का प्रयोग उपचरित अर्थ का बोध कराने के लिए ही होता है, अतः उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ही ग्राह्य है। अर्थात् 'यह बालक सिंह है' यहाँ उपचरित 'सिंह' शब्द से यह उपचरित अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि बालक अत्यन्त क्रूर और शूर है। जिस बालक को सिंह कहा जाता है, वह मुख्यार्थ की अपेक्षा सिंह नहीं होता, अपितु उपचरित अर्थ की अपेक्षा अर्थात् क्रौर्यशौर्यादिगुण-युक्तता की अपेक्षा सिंह होता है।

दिगम्बरपरम्परा में भी आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती कहा गया है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं कि उपचार में मुख्यार्थ की अपेक्षा कथन नहीं होता। जैसे 'यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है' इस कथन में देवदत्त को मुख्यार्थ की अपेक्षा (साक्षात्) अग्नि नहीं कहा गया है, अपितु अत्यन्त उग्रस्वभावरूप उपचरित अर्थ की अपेक्षा अग्नि कहा गया है, वैसे ही आर्यिकाओं को उपचारतः महाव्रती कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें मुख्यार्थ की अपेक्षा महाव्रती कहा गया है, बल्कि 'महाव्रती' शब्द के मुख्यार्थ के साथ जो श्रावकोत्तर-संयम-धारिणीरूप अन्य अर्थ सम्बद्ध है, जिसे उपचरित अर्थ कहते हैं, उसकी अपेक्षा वे महाव्रती सिद्ध होती हैं।

श्रावकों के समान श्राविकाओं में भी उत्कृष्ट (क्षुल्लिका), मध्यम और जघन्य श्रेणियाँ होती हैं। आर्यिका-श्रेणी इनसे उच्च है, क्योंकि आर्यिकाएँ स्त्रीसामर्थ्ययोग्य उच्चतम संयम का पालन करती हैं। महाव्रतों के साथ स्त्रीयोग्य उच्चतम संयम का सादृश्य-सम्बन्ध है। अतः आर्यिकाओं में उसके (स्त्रीयोग्य उच्चतम संयम के) अस्तित्व का बोध कराने के लिए उन्हें उपचार से महाव्रती कहा जाता है। इससे स्त्रियों की उपर्युक्त

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

श्रेणियों का पारस्परिकभेद स्पष्ट होता है और श्रावक-श्रविकाओं के द्वारा उनकी यथायोग्य विनय की जानी चाहिए , यह अर्थ भी द्योतित होता है। आचार्य जयसेन ने इसे कुलव्यवस्था (स्त्रीसंघव्यवस्था) कहा है और इसे ज्ञापित करने के लिए ही आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती कहने का औचित्य बतलाया है। सार यह कि दिगम्बरपरम्परा में आर्यिकाएँ उपचरित अर्थ की अपेक्षा महाव्रती होती हैं, मुख्यार्थ की अपेक्षा नहीं। अतः उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ही ग्राह्य है।[३३]

५.५. 'नग्न' शब्द के मुख्य और उपचरित अर्थ

जिस प्रकार 'सिंह' शब्द का मुख्य अर्थ है 'सिंह नामक क्रूर-शूर पशु' तथा उपचरित अर्थ है 'क्रौर्यशौर्यादिगुण-युक्त', उसी प्रकार 'नग्न' शब्द का मुख्य अर्थ है 'वस्त्ररहित-शरीरवाला' तथा उपचरित अर्थ हैं : निर्लज्ज, असभ्य, अश्लीलचेष्टाकारी, उन्मत्त (पागल), दरिद्र आदि। क्योंकि वस्त्रादि-सकल-परिग्रह-त्यागी मुनि के अतिरिक्त निर्लज्जता आदि धर्मों से युक्त मनुष्य ही कदाचित् नग्न हो जाते हैं। अतः नग्न शब्द के मुख्यार्थ के साथ निर्लज्ज, असभ्य आदि अर्थ संयुक्त हैं। इसलिए ये नग्न शब्द के उपचरित अर्थ हैं। जो यथार्थतः नग्न है, उसे नग्न कहने से तो 'नग्न' शब्द निर्वस्त्ररूप मुख्य अर्थ का ही अभिधाशक्ति से प्रतिपादन करता है, किन्तु जो सवस्त्र है, उसे नग्न कहने से वह ('नग्न' शब्द) निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ का प्रतिपादन न कर लक्षणाशक्ति से निर्लज्ज, असभ्य अश्लीलचेष्टाकारी, उन्मत्त, दरिद्र आदि उपचरित अर्थ की प्रतीति कराता है। मुख्य और उपचरित दोनों 'नग्न' शब्दों से निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ का प्रतिपादन नहीं हो सकता, क्योंकि उपचरित—'नग्न' शब्द का निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ बाधित (असंगत) हो जाता है। उपचरित-'नग्न' शब्द से निर्लज्जादि-रूप उपचरित अर्थ का ही प्रतिपादन संभव है। सवस्त्र पुरुष या स्त्री के लिए लोक में 'नग्न' शब्द के ऐसे अनेक उपचरितप्रयोग मिलते हैं, जिनसे 'नग्न' शब्द उपचरित अर्थ का बोध कराता है। जैसे 'नंगा-लुच्चा', 'भूखे-नंगे लोग', 'नंगा नहाये निचोड़े क्या?', 'अपना नंगापन मत दिखलाओ,' 'वह तो नंगई पर उतर आया', 'नंगों से तो खुदा भी डरता है', 'मैं सरे आम तुम्हें नंगा करूँगा', इत्यादि मुहावरों में 'नंगा' शब्द औपचारिक होने से 'निर्वस्त्र' (खुले गुह्यांगवाला) अर्थ का वाचक नहीं है, अपितु लक्षणा-व्यंजना शक्तियों के द्वारा अत्यन्त निर्लज्ज, अत्यन्त दरिद्र, अत्यन्त नीच आचरण करनेवाला, अत्यन्त लज्जित किये जाने योग्य, इत्यादि अर्थों का प्रतिपादक है। ये उपचरित 'नग्न' शब्द के उपचरित अर्थ हैं।

---

३३. "अथ मतं-यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्? परिहार-माहतदुपचारेण कुलव्यवस्था-निमित्तम्। न चोपचारः साक्षाद् भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत्। तथा चोक्तम्-मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपाचारः प्रवर्तते।" तात्पर्यवृत्ति / प्रवचनसार / आ.जयसेन-निर्दिष्ट गाथा 'जदि दंसणेण सुद्धा' ३ / १३ / पृ. २७७-२७८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किन्तु 'जीर्णवस्त्रधारी' अर्थ उपचरित नग्न शब्द का उपचरित अर्थ नहीं है, क्योंकि 'जीर्णवस्त्रधारित्व' निर्लज्जता आदि के समान नग्न व्यक्ति का कोई गुण-धर्म नहीं है। वह नग्न व्यक्ति में पाया ही नहीं जाता। जो नग्न है, वह जीर्णवस्त्रधारी नहीं हो सकता, जो जीर्णवस्त्रधारी है, वह नग्न नहीं हो सकता। अतः नग्न व्यक्ति में जिस धर्म का आत्यन्तिक अभाव है, वह 'नग्न' शब्द का उपचरित अर्थ नहीं हो सकता। अतः 'नग्न' शब्द की लक्षणाशक्ति से उसका लक्षित होना संभव नहीं है।

इस प्रकार लोक में जैसे अत्यन्त क्रौर्य-शौर्य-गुणवाले बालक को ही उपचार से सिंह कहा जाता है, जैसे अत्यन्त मन्दबुद्धि मनुष्य को ही उपचार से बैल, गधा या उल्लू शब्द से पुकारा जाता है, जैसे अत्यन्त दुष्ट स्त्री को ही उपचार से चुड़ैल नाम दिया जाता है, वैसे ही अत्यन्त निर्लज्ज, दरिद्र, नीच या बेइज्जत वस्त्रधारी मनुष्य को ही उपचार से नग्न या नंगा कहा जाता है। इसलिए यदि लौकिक दृष्टान्तों से सचेल मुनि को उपचार से अचेल या नग्न कहे जाने का औचित्य सिद्ध किया जाय, तो सचेलमुनि को निर्लज्ज, असभ्य, दरिद्र, या विक्षिप्त माने जाने का प्रसंग आता है। श्वेताम्बराचार्यों ने दिगम्बरजैन मुनियों को नग्न होने के कारण निर्लज्ज, बीभत्स, भण्डिकचेष्टाकारी आदि उपाधियों से विभूषित किया ही है, इसके प्रमाण पूर्व (शीर्षक ४.३) में दिये जा चुके हैं। उपचार के इस विपरीत परिणाम से सिद्ध है कि सचेल मुनि को उपचार से अचेल नहीं कहा जा सकता।

यदि यह माना जाय कि तीर्थंकरों ने सचेल मुनियों के लिए उपचार से 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का व्यवहार किये जाने का उपदेश दिया है, तो इसका यह अभिप्राय होगा कि तीर्थंकर सचेल मुनियों में निर्लज्जता, दरिद्रता आदि धर्म द्योतित करना चाहते थे। किन्तु सचेल मुनियों में न तो ये धर्म होते हैं, न ही तीर्थंकरों का उक्त अभिप्राय हो सकता है। इससे निर्णीत होता है कि सचेल मुनियों के लिए उपचार से 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का व्यवहार तीर्थंकरोपदिष्ट नहीं है, अपितु श्वेताम्बरटीकाकारों की देन है और इसका प्रयोजन था 'नग्न' शब्द के 'सर्वथा निर्वस्त्र' अर्थ को झुठलाकर दिगम्बरजैनमत को अतीर्थंकरप्रणीत सिद्ध करने का प्रयास। अनभिज्ञतावश टीकाकारों ने यह नहीं सोचा कि सचेल मुनियों को उपचार से नग्न कहकर वे उन्हें निर्लज्ज, दरिद्र आदि कहने का प्रयास कर रहे हैं।

५.६. द्विविध नग्नत्व के आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं

१. मोक्षमार्ग के उपदेष्टा भगवान् महावीर की दृष्टि में अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व दो प्रकार का था : मुख्य और औपचारिक, इसे सिद्ध करने के लिए विशेषावश्यकभाष्य वृत्तिकार श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने कोई आगमप्रमाण नहीं दिया।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२. साधुओं के दस स्थितिकल्प बतलानेवाली 'आचेलक्कुद्देसिय'[३४] गाथा में ऐसा कोई भी संकेत नहीं है कि वहाँ 'आचेलक्य' शब्द से मुख्य आचेलक्य और औपचारिक आचेलक्य ये दो अर्थ अपेक्षित हैं। यदि ऐसा होता, तो मूल में ही अगली गाथा के द्वारा इसका स्पष्टीकरण कर दिया गया होता।

३. श्वेताम्बर आगमों में जहाँ सचेलत्व का कथन अपेक्षित था, वहाँ 'सचेल' या 'सान्तरोत्तर' शब्दों का ही प्रयोग किया गया है, उपचार से 'अचेल' शब्द का नहीं।[३५]

४. यदि मोक्षमार्गभूत आचेलक्य के मुख्य और उपचाररूप भेद हों, तो, मोक्ष के भी मुख्य और उपचाररूप भेद होंगे। और औपचारिक आचेलक्यवाले को औपचारिक मोक्ष की ही प्राप्ति होगी, मुख्य (वास्तविक) मोक्ष की नहीं। किन्तु आगम में मोक्ष के मुख्य और औपचारिक भेद नहीं मिलते। इससे सिद्ध है कि आचेलक्य के भी मुख्य और उपचाररूप भेद आगमोक्त नहीं हैं।

५. यदि सचेल को उपचार से अचेल माना जाय तो सचेलत्व (एषणीय वस्त्रधारण करने) को उपचार से अचेलपरीषह मानना होगा। किन्तु वस्त्रधारण करना तो शीतादिपरीषह निवारण का साधन है, अतः उसमें परीषह का लक्षण घटित नहीं होता, फलस्वरूप सचेल मुनि को उपचार से अचेल मानने पर अचेलपरीषह के अभाव का प्रसंग आता है, जो कि आगमविरुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि सचेल को उपचार से अचेल मानना आगमसम्मत नहीं है।

५.७. लोकरूढ़ि एवं उपचार परस्परविरुद्ध

श्वेताम्बराचार्यों ने लोकरूढ़ि एवं उपचार दोनों से सचेल मुनियों के लिए अचेल या नग्न शब्द के प्रयोग की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है, किन्तु दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। यथा—

१. शब्द में जो अर्थ रूढ़ हो जाता है, वह शब्द का मुख्यार्थ बन जाता है, लेकिन उपचरित अर्थ मुख्यार्थ नहीं बनता। इसलिए रूढ़ अर्थ शब्द को सुनते ही समझ में आ जाता है, किन्तु उपचरित अर्थ समझने की कोशिश करने पर समझ में आता है। कभी-कभी कोशिश करने पर भी समझ में नहीं आता, इसलिए समझदारों से पूछना पड़ता है।

२. रूढ़ शब्द का मुख्यार्थ लोक में सत्य माना जाता है, किन्तु उपचरित शब्द के मुख्यार्थ को सब असत्य मानते हैं।

---

३४. जीतकल्पभाष्य / गाथा १९७२ (जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. १२६)।
३५. देखिये, इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण के शीर्षक ५ एवं ६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. रूढ़ार्थ का प्रतिपादन शब्द के अभिधा-व्यापार द्वारा होता है, उपचरित अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा-व्यापार के द्वारा।

४. रूढ़ार्थ का बोध मुख्यार्थबाध के व्यवधान के बिना होता है, उपचरित अर्थ का बोध मुख्यार्थबाध के व्यवधानपूर्वक होता है।

५. रूढ़ अर्थ शब्द में सदा विद्यमान रहता है, उपचरित अर्थ शब्द का उपचार से प्रयोग करने पर ही आता है।

६. रूढ़ शब्द के प्रयोग से सामान्यवाक्यार्थ का बोध होता है, उपचरित शब्द के प्रयोग से विशेषवाक्यार्थ की प्रतीति होती है। विशेषवाक्यार्थ की प्रतीति कराना ही उपचार का प्रयोजन होता है।

इस प्रकार रूढ़ार्थ और उपचरित अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं। अतः यदि सचेल स्त्री-पुरुष के लिए नग्न शब्द का प्रयोग लोकरूढ़ माना जाय, तो उसे उपचार से प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, और यदि उपचार से प्रयुक्त माना जाय, तो लोकरूढ़ नहीं माना जा सकता। इस तरह सचेल स्त्री-पुरुष के लिए 'नग्न' या 'अचेल' शब्द के प्रयोग के विषय में ये परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ एक-दूसरे को असत्य सिद्ध करती हैं।

यहाँ तक प्रस्तुत किये गये ये बहुमुखी विविध प्रमाण उपर्युक्त कल्पनाओं की अप्रामाणिकता को अनेक द्वारों से उद्घाटित कर सिद्ध कर देते हैं कि न तो आगम में सचेल मुनि के लिए 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, न ही सचेल स्त्री-पुरुष को नग्न कहना लोकरूढ़ि है और न सचेल मुनि को उपचार से अचेल या नग्न कहा जा सकता है।

'अचेलक' शब्द के प्रति जैसा आकर्षण श्वेताम्बरपरम्परा में दिखायी देता है, वह आश्चर्यकारक है। 'अचेलक' शब्द सवस्त्रमुक्तिप्रतिपादक श्वेताम्बरपरम्परा के विरुद्ध है, तथापि इस परम्परा ने प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को केवल अचेलकधर्म का और शेष २२ तीर्थंकरों को अचेल और सचेल, दोनों धर्मों का उपदेशक स्वीकार किया है। किन्तु 'अचेलक' शब्द की जैसी मिट्टीपलीद भी श्वेताम्बरपरम्परा ने की है, वह भी अद्भुत है। लोगों को जैनधर्म के इतिहास तथा संस्कृत-प्राकृत एवं लोकभाषा के ज्ञान से सर्वथा शून्य मानते हुए तथा भाषा और व्याकरण के सभी नियमों को ताक पर रखते हुए श्वेताम्बराचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'अचेलक' शब्द वस्तुतः 'सचेल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः अचेल मुनि का अर्थ है

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. रूढ़ार्थ का प्रतिपादन शब्द के अभिधा-व्यापार द्वारा होता है, उपचरित अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा-व्यापार के द्वारा।

४. रूढ़ार्थ का बोध मुख्यार्थबाध के व्यवधान के बिना होता है, उपचरित अर्थ का बोध मुख्यार्थबाध के व्यवधानपूर्वक होता है।

५. रूढ़ अर्थ शब्द में सदा विद्यमान रहता है, उपचरित अर्थ शब्द का उपचार से प्रयोग करने पर ही आता है।

६. रूढ़ शब्द के प्रयोग से सामान्यवाक्यार्थ का बोध होता है, उपचरित शब्द के प्रयोग से विशेषवाक्यार्थ की प्रतीति होती है। विशेषवाक्यार्थ की प्रतीति कराना ही उपचार का प्रयोजन होता है।

इस प्रकार रूढ़ार्थ और उपचरित अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं। अतः यदि सचेल स्त्री-पुरुष के लिए नग्न शब्द का प्रयोग लोकरूढ़ माना जाय, तो उसे उपचार से प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, और यदि उपचार से प्रयुक्त माना जाय, तो लोकरूढ़ नहीं माना जा सकता। इस तरह सचेल स्त्री-पुरुष के लिए 'नग्न' या 'अचेल' शब्द के प्रयोग के विषय में ये परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ एक-दूसरे को असत्य सिद्ध करती हैं।

यहाँ तक प्रस्तुत किये गये ये बहुमुखी विविध प्रमाण उपर्युक्त कल्पनाओं की अप्रामाणिकता को अनेक द्वारों से उद्घाटित कर सिद्ध कर देते हैं कि न तो आगम में सचेल मुनि के लिए 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, न ही सचेल स्त्री-पुरुष को नग्न कहना लोकरूढ़ि है और न सचेल मुनि को उपचार से अचेल या नग्न कहा जा सकता है।

'अचेलक' शब्द के प्रति जैसा आकर्षण श्वेताम्बरपरम्परा में दिखायी देता है, वह आश्चर्यकारक है। 'अचेलक' शब्द सवस्त्रमुक्तिप्रतिपादक श्वेताम्बरपरम्परा के विरुद्ध है, तथापि इस परम्परा ने प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को केवल अचेलकधर्म का और शेष २२ तीर्थंकरों को अचेल और सचेल, दोनों धर्मों का उपदेशक स्वीकार किया है। किन्तु 'अचेलक' शब्द की जैसी मिट्टीपलीद भी श्वेताम्बरपरम्परा ने की है, वह भी अद्भुत है। लोगों को जैनधर्म के इतिहास तथा संस्कृत-प्राकृत एवं लोकभाषा के ज्ञान से सर्वथा शून्य मानते हुए तथा भाषा और व्याकरण के सभी नियमों को ताक पर रखते हुए श्वेताम्बराचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'अचेलक' शब्द वस्तुतः 'सचेल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः अचेल मुनि का अर्थ है

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सचेल मुनि और अचेलकधर्म का अर्थ है सचेलधर्म। इस प्रकार उन्होंने सचेलत्व का सुख भोगते हुए अपने को तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म का अनुयायी सिद्ध करके दिखा दिया। उनकी यह अद्भुत कला दिगम्बरमत की प्राचीनता को उजागर करने में अभूतपूर्व साधन बनी है। इसने साबित कर दिया है कि यतः अचेलक शब्द का वास्तविक अर्थ **सर्वथा निर्वस्त्र** अर्थात् **दिगम्बर** है, अतः भगवान् महावीर ने वस्तुतः दिगम्बरधर्म का ही उपदेश दिया था, अतः वही मौलिक एवं पूर्ववर्ती है।

६

अचेलत्व के संयमादिघातक[३६] होने का उद्घोष

पंचमकाल में एकमात्र सचेल स्थविरकल्प को आचरणीय सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बराचार्यों ने न केवल जिनकल्प (अचेलत्व) के उच्छेद की घोषणा कर दी, बल्कि अचेलत्व को संयम का घातक और ध्यान-अध्ययन आदि में बाधक भी करार दिया। श्री जिनभद्रगणी कहते हैं कि शरीर को वस्त्र से आवृत न करने पर शीतपरीषह से साधु को आर्त्तध्यान होता है, जिससे उसका मन ध्यान और अध्ययन में नहीं लगता। शीतनिवारण के लिए यदि वह अग्नि प्रज्वलित करता है, तो उससे तृण और ईंधन में रहनेवाले जीवों का घात होता है, जिससे संयम की विराधना होती है।[३७] जैसे क्षुधादि से पीड़ित शरीर संयम का हेतु नहीं है, वैसे ही शीत, आतप, दंशमशक आदि से पीड़ित शरीर भी संयम का हेतु नहीं है।[३८]

वस्त्र के अभाव में ईर्यादि पाँच समितियों का भी पालन नहीं हो पाता।[३९] ठंड, धूप, हवा, वर्षा आदि उपद्रवों के समय तदनुकूल धृतिसंहनन आदि बल से रहित साधु जल्दी-जल्दी आता-जाता है, जिससे ईर्यासमिति का पालन नहीं होता। पात्र के अभाव में हाथ में रखे हुए सत्तू, दही आदि के गिर जाने के भय से जल्दी-जल्दी लेकर जल्दी-जल्दी खायेगा, जिससे अनेषणा समिति का पालन नहीं हो पायेगा। पात्र न होने पर भूमि पर ही प्रश्रवण (मूत्रोत्सर्ग) और सिंघान (नासिकामलक्षेपण) आदि करने से अनेक जीवों का घात होगा, जिससे परिष्ठापनिका समिति सम्पन्न नहीं होगी

---

३६. "वस्त्राभावे ये संयमविराधनादयो दोषाः प्रोक्ताः---।" हेम.वृत्ति. / विशे.भा. / २५८१-८३ / पृ.५१६।

३७. वही / गा. २५७५-७९ / पृ. ५१५।

३८. "यथा क्षुधादिपीडितं शरीरं न संयमहेतुस्तथा शीतातपदंशमशकादिपीडितमपीति बोध्यम्।" प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति १/२/२९/पृ.९१।

३९. "वस्त्रपात्राद्युपकरणाभावे समितयः ईर्याभाषैषणादानपरिष्ठापनिकालक्षणाः पञ्च समितयो न भवन्ति, तदभावाच्च कुतः संयमः?" वही / १/२/१८/पृ.८१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और ऐसा करते समय किसी के द्वारा आक्षेप किये जाने पर भाषासमिति का भी ध्यान नहीं रख पायेगा। आदान-निक्षेपण समिति भी वस्त्रपात्रादि के बिना संभव नहीं हैं। समितियों के अभाव में संयम का अभाव होता है।[४०]

वस्त्र के अभाव में साधु रासभ आदि के समान निर्लज्ज हो जाता है। निर्लज्ज पुरुष चारित्र का पालन कैसे कर सकता है? वस्त्रावृत पुरुष ही लज्जायुक्त होकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अन्यथा जैसे घोड़ी को देखकर घोड़े की लिंगविकृति हो जाती है, वैसे ही स्त्री को देखकर साधु के भी लिंग में विकार उत्पन्न हो सकता है, जिससे प्रवचनोड्डाह (जिनशासन के अनुयायियों में उत्पन्न विकृति) और अब्रह्मसेवा आदि बहुत से दोष सर्वजनविदित हो सकते हैं। इस तरह अचेलता लज्जा की रक्षा में समर्थ न होने से असंयम का कारण है।[४१]

अचेलत्व में इन संयमादिविराधक दोषों के होने की घोषणा गुरु आर्यकृष्ण ने शिवभूति के समक्ष की थी, जिसका वर्णन जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यकभाष्य में किया है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यकृष्ण (ई० प्रथम शताब्दी) के पूर्व दिगम्बरपरम्परा विद्यमान थी।

७

वस्त्रादि के संयमसाधक होने का प्रतिपादन

जिनभद्रगणी ने आर्यकृष्ण की ओर से अचेलत्व को संयमादि का विराधक घोषित कर वस्त्रपात्रादि को संयम का उपकारी बतलाया है, जिसे वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है—

''कं नाम संयमोपकारं करोति वस्त्रादिकम्? इति यदि तव मतिः, तर्हि कथ्यते शृणु–सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावत् शीतार्तानां त्राणं, साधूनामार्त्तध्यानापहरणं क्रियते। तथा ज्वलन-तृणादीन्धनगतानां सत्त्वानां त्राणं रक्षणं 'क्रियते'। --- यदि कल्पाः न भवेयुः, तदा शीतार्ताः साधवोऽग्नि-तृणादीन्धन-ज्वलनं कुर्युः। तत्करणे चावश्यम्भावी तद्गतसत्त्वोपघातः। कल्पैस्तु प्रावृतैरेष न भवत्येव, अग्नितृणादिज्वलनमन्तरेणापि शीतार्त्तिनिवृत्तेरिति। तथा ''कालचउक्कं उक्कोसए जहन्ने तियं तु बोधव्वं''

---

४०. ''समित्याद्यभावात् संयमाभावः।'' प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / १/२/१८/ पृ. ८२।

४१. ''वस्त्राभावे च रासभादिवदविशेषेण लज्जारहित्यं स्यात्। लज्जारहितस्य च कुतश्चारित्रपालनम्?---वस्त्रावृतस्य लज्जया ब्रह्मचर्यं स्याद्, अन्यथा वडवादर्शनाद् वाडवस्येव स्त्रीदर्शनाल्लिङ्गादिविकृत्या प्रवचनोड्डाहाब्रह्मसेवादयो बहवो दोषाः सर्वजनविदिता भवेयुः।'' वही/१/२/३०/ पृ.९१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इत्यादिवचनात् समस्त-रात्रि-जागरणं कुर्वद्भिः साधुभिश्चत्वारः काला ग्रहीतव्याः। तच्च हिमकणप्रवर्षिणि शीते पतति चतुष्कालं गृह्णतां तेषामृषीणां कल्पाः प्रावृताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्याय-ध्यानसाधनं कुर्वन्ति, शीतार्त्यपहरणादिति।'' (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / २५७५-७६)।

अनुवाद—''वस्त्रादि संयम के साधक किस प्रकार हैं? सुनिए, सूती और ऊनी कल्पों (शरीर-प्रमाण आवरणों) से शीत से पीड़ित साधुओं की रक्षा होती है, आर्त्तध्यान का निवारण होता है तथा अग्निगत तृण आदि ईंधन में रहनेवाले जीवों की रक्षा होती है। क्योंकि यदि कल्प (आवरण) न हों, तो शीत से पीड़ित साधु अग्नि जलाकर शीत से बचने का प्रयत्न करेंगे जिससे तृणादि ईंधन में रहनेवाले जीवों का घात अवश्यम्भावी है। कल्पों को ओढ़ लेने से अग्नि जलाये बिना भी शीत की पीड़ा का निवारण हो जाता है। तथा आगम के अनुसार समस्त रात्रि में जागरण करनेवाले साधुओं को चार काल ग्रहण करना चाहिए। जो साधु हिमकण बरसानेवाली शीत में चार काल ग्रहण करते हैं, वे कल्पों (सूती-ऊनी चादरों) से आवृत्त होने पर ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न सम्पन्न करते हैं, क्योंकि उन्हें शीत की पीड़ा नहीं हो पाती।''

वृत्तिकार आगे लिखते हैं—''तथा यदि साधु की पुरुषेन्द्रिय विकृत है, तो वस्त्रधारण करने से उसकी विकृति ढँक जाती है, जिससे वह लोगों के लिए ग्लानि का कारण नहीं बनता। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को देखने से यदि उसके लिंग का उत्थान हो जाता है, तो चोलपट्टक पहनने से वह प्रकट नहीं हो पाता। फलस्वरूप वह लोगों के सामने लज्जित होने से बच जाता है।[४२] इस तरह उसके लज्जारूप संयम का पालन होता है।[४३] वस्त्रधारण करने से पूर्व में कहे अनुसार पाँच समितियों का भी पालन होता है।'' विशेषावश्यकभाष्यकार ने पात्र की संयमोपकारिता का भी विस्तार से निरूपण किया है।[४४] इस तरह आर्यकृष्ण ने शिवभूति के समक्ष वस्त्रपात्र की संयमोपकारिता का जो विस्तार से वर्णन किया था उसे जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यकभाष्य में अभिलिखित किया है। यह दिगम्बरपरम्परा द्वारा वस्त्रपात्रादि को असंयमकारी कहे जाने की प्रतिक्रिया का फल है। इससे दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

---

४२. वेउव्वेऽवायडे वाइए हीखड्डे पजणणे चेव।
तेसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो ओ॥ कल्पभाष्य।
(विशेषावश्यकभाष्य गा. २५७५-७९ की हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति में उद्धृत।)

४३. ''ह्रीर्लज्जा संयमो वा।'' (हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५५३-५७।

४४. विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७५-७९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८

तीर्थंकर इसके अपवाद

शिवभूति की तरफ से प्रश्न उठाया गया है कि यदि वस्त्रपात्रादि संयम के उपकारी हैं, तो जिनेन्द्र ने उन्हें ग्रहण क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण की ओर से जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कहते हैं—

"जिनेन्द्र अनुपमधृति और अनुपम संहनन के धारी, छद्मावस्था में चतुर्ज्ञानी, अतिशयसत्त्वसम्पन्न, अच्छिद्रपाणि और जितसमस्तपरीषह होते हैं, अतः वस्त्रपात्ररहित होने पर भी उन्हें संयमविराधनादि दोष नहीं लगते। फलस्वरूप उनके लिए वस्त्र-पात्रादि उपकरण संयम के साधक नहीं हैं। अतः तीर्थंकर वस्त्रपात्रादि ग्रहण नहीं करते। तथापि यह उपदेश देने के लिए कि तीर्थ (मोक्षमार्ग) सवस्त्र ही है, और सवस्त्र साधु ही मोक्षमार्ग में चिरकाल तक होंगे, वे एकवस्त्र लेकर घर से निकलते हैं। जब वह वस्त्र गिर जाता है, तब निर्वस्त्र होते हैं, सदा नहीं। इस तरह जिनेन्द्र भी सर्वथा अचेलक नहीं होते।" (विशे.भा./गा. २५८१-८३)।

९

तीर्थंकरों की बराबरी करने का निषेध

शिवभूति कहता है कि जिनेन्द्र भी अचेल थे, इसलिए मैं भी अचेल ही रहूँगा, क्योंकि जैसा गुरु का लिंग होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए। श्वेतपटधारी या नग्न साधु बुद्ध का शिष्य नहीं कहला सकता।[४५]

इसे आर्यकृष्ण अनुचित बतलाते हैं। वे कहते हैं—"यदि तीर्थंकर के शिष्य होने के कारण उनका वेश तुम्हारे लिए प्रमाण है, तो उनका उपदेश भी तुम्हारे लिए प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि गुरु के उपदेश का उल्लंघन करके शिष्य अभीष्ट की सिद्धि नहीं कर सकता। परमगुरु का उपदेश यह है कि जो निरुपम धृति और निरुपम संहनन आदि अतिशय से रहित है, उसे अचेलक कभी नहीं होना चाहिए।"

इस पर शिवभूति कहता है—"जैसे गुरु का उपदेश करणीय है, वैसे ही उनका वेष और चरित भी अवश्य आचरणीय हैं।"

आर्यकृष्ण कहते हैं—"यह अनुचित है, क्योंकि उनका उपदेश ही कार्यसाधक है। जैसे रोगी, वैद्य के उपदेश का पालन करने से ही रोग से मुक्त होता है, उसके

४५. जारिसियं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं।
न हि होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्गखवणो वा॥
(विशेषावश्यकभाष्य-गाथा २५८५ की हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति में उद्धृत)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वेश और चरित का अनुकरण करने से नहीं, वैसे ही जिनवैद्य के उपदेश का पालन करनेवाला ही कर्मरोग से मुक्त होता है, उनके वेष और चरित का अनुकरण करनेवाला नहीं। जिनेन्द्रवत् योग्यता न रहते हुए भी, जो उनके वेश और चरित का अनुकरण करता है, वह उन्माद आदि का ही पात्र बनता है।''

नग्नमुद्रा धारण कर तीर्थंकरों की बराबरी करने का यह निषेध भी दिगम्बरत्व की पूर्ववर्तिता का प्रमाण है, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा में ही तीर्थंकरगृहीत मार्ग को अनुकरणीय मानकर प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष के लिए दिगम्बरवेश अनिवार्यतः ग्राह्य बतलाया गया है।

१०

संयमसाधनभूत वस्त्रादि के मूर्च्छाहेतुत्व का निषेध

दिगम्बरपरम्परा वस्त्रपात्रादि को संयम का साधन नहीं मानती, इसके विपरीत उन्हें मूर्च्छा का फल और मूर्च्छा का हेतु मानती है, क्योंकि वे परीषहपीड़ा के न सहे जा सकने के कारण देहसुख की इच्छा से ग्रहण किये जाते हैं। इसका खंडन करने के लिए सचेल स्थविरकल्प के एकान्त समर्थक आर्यकृष्ण वस्त्रपात्रादि को पहले संयम का साधन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, पश्चात् संयमसाधनों के मूर्च्छाहेतुत्व का निषेध करते हैं। यथा—

वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमरागदोसस्स।
तं तमपरिग्गहो च्चिय परिग्गहो जं तदुवघाइं॥ २५७४॥ विशे.भा.।

अनुवाद—''रागद्वेषरहित जीव के वस्त्रादिरूप जो पदार्थ संयम के साधन हैं, वे परिग्रह नहीं हैं, अपितु जो संयम के उपघातक हैं, वे परिग्रह हैं।''

इसे वे देह और आहार के दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं—''यदि वस्त्रपात्रादि परद्रव्य होने से मूर्च्छा के हेतु हैं, तो देह और आहार भी परद्रव्य हैं, अतः उन्हें भी मूर्च्छा का हेतु मानना होगा। यदि तुम कहो कि देह और आहार मोक्ष के साधन होने से मोक्षबुद्धि से ग्रहण किये जाते हैं, अतः उनमें मूर्च्छा नहीं हो सकती, तो वस्त्रपात्रादि भी मोक्ष के साधन हैं, उन्हें मोक्षसाधन-बुद्धि से ग्रहण करने पर मूर्च्छा कैसे हो सकती है?''[४६] अर्थात् वस्त्रपात्रादि संयम के साधन

---

४६. मुच्छाहेऊ गंथो जइ तो देहाइओ कहमगंथो।
मुच्छावओ कहं वा गंथो वत्थादसंगस्स॥ २५६२॥
अह देहाऽऽहाराइसु न मोक्खसाहणमईए ते मुच्छा।
का मोक्खसाहणेसुं मुच्छा वत्थाइएसुं तो॥ २५६३॥ विशेषावश्यकभाष्य।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

होने से ग्रहण किये जाते हैं, अतः उनके ग्रहण से मूर्च्छा नहीं होती, इसलिए वे ग्रन्थ या परिग्रह नहीं हैं।

किन्तु वस्त्रपात्रादि का ग्रहण मूर्च्छा का ही फल है और गृहीत वस्त्रपात्रादि मूर्च्छा के जनक हैं, अतः ग्रन्थ हैं, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ केवल यह द्रष्टव्य है कि शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण के द्वारा इस दिगम्बरमान्यता का खण्डन किया जाना कि वस्त्रादि का ग्रहण मूर्च्छा का हेतु है, दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध करता है।

११

कषायादि के हेतु होते हुए भी वस्त्रादि के ग्रन्थत्व का निषेध

शिवभूति दिगम्बरमत के अनुसार वस्त्रपात्रादि को कषाय, भय तथा रौद्रध्यान का हेतु बतलाकार उन्हें परित्याज्य कहता है।[४७] गुरु आर्यकृष्ण शिवभूति पर आक्षेप करते हुए कहते हैं—"यदि वस्त्रपात्रादि कषाय के हेतु हैं, इसलिए परिग्रह होने से मुमुक्षु को उनका परित्याग कर देना चाहिए, तो तुम्हारा अपना शरीर भी अपने आत्मा के लिए कषाय का हेतु है, अतः वह भी परिग्रह होने से परित्याज्य सिद्ध होता है। अथवा यदि तुम मानते हो कि देह कषायहेतु होते हुए भी मोक्षसाधनबुद्धि से ग्रहण किये जाने पर ग्रन्थ नहीं है, तो वस्त्रपात्रादि भी कषायहेतु होते हुए भी मोक्षसाधनबुद्धि से ग्रहण किये जाने पर ग्रन्थ सिद्ध नहीं होते।" (विशे.भा./गा. २५५८-६१)।

"इसी प्रकार यदि वस्त्रपात्रादि चोरों से भय उत्पन्न करते हैं, तो देह भी सिंहादि हिंस्र पशुओं से भयोत्पत्ति का हेतु है। किन्तु भय का हेतु होते हुए भी यदि धर्मसाधन होने से देह ग्रन्थ नहीं है, तो वस्त्र भी धर्मसाधन होने से ग्रन्थ कैसे हो सकते हैं?" (विशे.भा./गा. २५६८-६९)।

"तथा चोर-डाकुओं से वस्त्रपात्रादि की रक्षा के लिए यदि संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान उत्पन्न होता है, तो यह सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि से देह की रक्षा के लिए भी उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यदि धर्मसाधन का अंग होने से देह का संरक्षणानुबन्धविधान प्रशस्त ही है, दोषजनक नहीं, तो धर्मसाधन होने से वस्त्रादि का भी संरक्षणानुबन्धविधान प्रशस्त ही सिद्ध होता है, दोषपूर्ण नहीं।" (विशे.भा./गा. २५७०-७१)।

इस दिगम्बरमत के खण्डन से भी दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

---

४७. "परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्त्तव्यः, किं पुनरनेन कषायभयमूर्च्छादिदोष-निधिना परिग्रहानर्थेन?" हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति/विशे.भा./गा. २५५१-५२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१२

स्वर्ण और युवती के ग्रन्थत्व का निषेध

दिगम्बरमत में हेतु-दृष्टान्त-न्याय से वस्त्रादि को ग्रन्थ सिद्ध किया गया है। यथा—'वस्त्रादि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे मूर्च्छा के हेतु हैं, जैसे स्वर्ण आदि।' इसका खण्डन करने के लिए आर्यकृष्ण या उनकी तरफ से श्री जिनभद्रगणी अन्य हेतु और दृष्टान्त से स्वर्ण और स्त्री को भी अग्रन्थ सिद्ध करते हैं। जैसे—'स्वर्ण और धर्मान्तेवासिनी युवती मेरी है, क्योंकि वह मेरी देह के लिए उपकारी है, जैसे आहार।' गणी जी का कथन है कि युवती का देहोपकारित्व तो स्पष्ट है, स्वर्ण इसलिए देहोपकारी है कि उससे विष का उपचार होता है। देखिये **विशेषावश्यकभाष्य** की यह गाथा—

आहारो व्व न गंथो देहत्थं विसघायणट्ठाए।
कणगं पि तहा जुवई धम्मंतेवासिणी मे त्ति॥ २५७२॥[४८]

जिनभद्रगणी जी का आशय यह है कि देह मोक्षसाधन का अंग है और आहार देह का उपकारी है, अतः वह भी मोक्ष का साधन है, इसलिए ये दोनों ग्रन्थ नहीं है। इसी प्रकार वस्त्र, पात्र, स्वर्ण, युवती आदि भी मोक्षसाधनभूत देह के उपकारी हैं, अतः ये भी मोक्षसाधन के अंग होने से परिग्रह नहीं हैं—"**कनकयुवत्यादयोऽपि न ग्रन्थः, देहार्थत्वात् , आहारवदिति तात्पर्यम्।**" (हेम.वृत्ति / विशे.भा./ गा.२५७२)। यदि इनमें मूर्च्छा होगी तो परिग्रह कहलायेंगे। किन्तु मोक्षसाधनबुद्धि से ग्रहण करने पर इनमें मूर्च्छा होगी ही नहीं। इस आशय का प्रतिपादन उन्होंने **विशेषावश्यकभाष्य** की निम्नलिखित गाथाओं में किया है—

तम्हा किमत्थि वत्थुं गंथोऽगंथो व सव्वहा लोए?
गंथोऽगंथो व मओ मुच्छममुच्छाहिं निच्छयओ॥ २५७३॥

वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमराग-दोसस्स।
तं तमपरिग्गहो च्चिय परिग्गहो जं तदुवघाइं॥ २५७४॥

इन गाथाओं का अभिप्राय वृत्तिकार हेमचन्द्र सूरि ने निम्नलिखित शब्दों में उपन्यस्त किया है—

४८. "अपि च, यदि वस्त्रादिकं ग्रन्थः, मूर्च्छादिहेतुत्वात्, कनकादिवदिति हेतुदृष्टान्तोपन्यासमात्रेणैव वस्त्रादेर्ग्रन्थत्वं साधयति भवान् , तर्हि वयमपि तदुपन्यासमात्रेण कनकादेरप्यग्रन्थत्वं साधयामः। कथम् इत्याह --- कनकं तथा युवतिश्च धर्मान्तेवासिनी मे ममेति बुद्ध्या परिगृह्णतो न ग्रन्थ इति सम्बन्धः, एषा किल प्रतिज्ञा। कुतः? इत्याह–देहार्थमिति कृत्वा, अयं च हेतुः, देहार्थत्वात् देहप्रयोजनत्वात् देहोपकारित्वादित्यर्थः। ननु युवतेर्देहोपकारित्वं किल प्रतीतम्, कनकस्य तु तत् कथम्? इत्याह—'विसघायणट्ठाए त्ति, विषघातकत्वादित्यर्थः---आहारवदिति दृष्टान्तः।" हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५७२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

''तस्मात् किं नाम तद् वस्त्वस्ति लोके यदात्मस्वरूपेण सर्वथा ग्रन्थोऽग्रन्थो वा? नास्त्येवैतदित्यर्थः। ततश्च 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा' इत्यादिवचनाद् यत्र वसु-देहाऽऽहार-कनकादौ मूर्च्छा सम्पद्यते तद् निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः। यत्र तु सा नोपजायते तदग्रन्थ इति।'' (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५७३-७४)।

अनुवाद—''लोक में ऐसी कौनसी वस्तु है, जो अपने-आप में सर्वथा ग्रन्थ या अग्रन्थ हो? अर्थात् कोई भी नहीं है। इसलिए 'भगवान् ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है' (दशवै.सू.) इस वचन के अनुसार जिन धन, देह, आहार, स्वर्ण आदि ('आदि' शब्द से युवती भी गृहीत है) में मूर्च्छा उत्पन्न होती है, वे परमार्थतः ग्रन्थ हैं, जिनमें नहीं होती, वे अग्रन्थ हैं।''

ग्रन्थ (परिग्रह) और अग्रन्थ (अपरिग्रह) की यह परिभाषा सोना-चाँदी, हीरे-मोती और स्त्री के संग को भी अपरिग्रह सिद्ध कर देती है, जो भगवान् के उपदेश के विरुद्ध है। आचारांग में सभी प्रकार के स्थूल-सूक्ष्म, चेतन-अचेतन बाह्य द्रव्य के संग को परिग्रह कहा गया है, यह पूर्व में निर्दिष्ट किया जा चुका है। और युवती का संग, उसकी देहोपकारिता तो ब्रह्मचर्य महाव्रत की उपघातक है। तब वह मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है? वह तो नरक का साधन है। अतः वह मूर्च्छा का हेतु न हो, यह तो हो ही नहीं सकता। अतः उपर्युक्त हेतु और दृष्टान्त का प्रयोग कनक और युवती आदि को अग्रन्थ सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है। निष्कर्ष यह कि उपर्युक्त हेतु-दृष्टान्तन्याय के अनुसार **'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा'** (दशवैकालिक ६/२०) परिग्रह की यह परिभाषा भगवान् के उपदेश के बिलकुल विरुद्ध है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ सिर्फ यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त प्रकार से स्वर्ण, स्त्री आदि के ग्रन्थत्व का निषेध करके परिग्रह की दिगम्बरमान्य परिभाषा का खण्डन किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरमत शिवभूति और आर्यकृष्ण के पूर्व से चला आ रहा है।

१३
परीषहजय के आगमप्रसिद्ध अर्थ का अपलाप

वस्त्रादि को संयम का साधन मान लेने पर परीषहजय की आगम-प्रतिपादित परिभाषा से विसंवाद होना स्वाभाविक था। शीत, उष्ण, दंशमशक आदि से उत्पन्न पीड़ाओं को समभाव से सहने का नाम परीषहजय है। यह तभी संभव है जब शरीर नग्न हो। आचारांग में भी कहा गया है—

''जो मुनि अचेल विचरण करता है, उसे तृणस्पर्श-परीषह पीड़ित करता है, शीतपरीषह त्रास देता है, उष्णपरीषह सन्ताप देता है, डाँस-मच्छर पीड़ा पहुँचाते हैं और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आते हैं। उन्हें वह भली-भाँति सहन

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

करता है। इस प्रकार अचेल मुनि उपकरणों और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है।'' (हिन्दी-अनुवाद / शीलांकाचार्यवृत्ति / आचा. / १/७/७ / २२०-२२१)।

भगवती-आराधना की ४२३वीं गाथा की टीका में अपराजित सूरि लिखते हैं—''परीषहसूत्रों (उत्तराध्ययन) में जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श आदि की पीड़ाओं को सहन करने के वचन हैं, उनसे सिद्ध होता है कि साधु को अचेल (नग्न) रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि सवस्त्र को शीतादि की पीड़ाएँ नहीं होतीं।''[४९]

किन्तु वस्त्रादि को संयम का उपकारी मान लेने से अचेलत्व का निषेध हो जाता है, जिससे परीषहजय का उपदेश भी असंगत हो जाता है। अतः सवस्त्र रहते हुए भी परीषहजय के उपदेश की संगति बैठाने के लिए परवर्ती श्वेताम्बराचार्यों ने परीषहजय के अर्थ को ही बदल दिया। बोटिक शिवभूति जिनकल्प का पक्ष ग्रहण करते हुए कहता है कि आगम में मुनि को 'जिताचेलपरीषह' (नाग्न्यपरीषह को जीतनेवाला) कहा गया है, अतः अचेलत्व ही ग्राह्य है।[५०]

इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं—''यह हम भी जानते हैं कि मुनि जिताचेल-परीषह होता है। किन्तु अचेलपरीषह को जीतने का अर्थ सर्वथा वस्त्रत्याग नहीं है, अपितु अनेषणीय दोष से युक्त वस्त्र के त्याग को अचेलपरीषह-जय कहते हैं। यदि वस्त्र के सर्वथा परित्याग को अचेलपरीषहजय माना जाय तो आहार के भी सर्वथा त्याग को क्षुधा-तृषापरीषहजय मानना होगा। पर ऐसा नहीं है, उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध एषणीय आहार-जल ग्रहण करने पर भी मुनि क्षुधा-तृषा परीषहों को जीतनेवाला कहलाता है। इसी प्रकार एषणीय वस्त्रों का उपयोग करते हुए भी केवल अनेषणीय वस्त्र का परिभोग न करनेवाला मुनि अचेल परीषहजयी कहलाता है।''[५१]

---

४९. ''इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।'' विजयोदयाटीका / भ.आ. / गा. 'आचेलक्कु' ४२३ / पृ. ३२६।

५०. जं च जियाचेलपरिसहो मुणी जं च तीहिं ठाणेहिं।
वत्थं धरिज्ज नेगंतओ तओऽचेलया सेया ॥ २५५७॥ विशेषावश्यकभाष्य।
अनुवाद—मुनि वही है, जो अचेलपरीषह को जीतता है और अचेल परीषह को वही जीतता है, जो वस्त्र त्याग देता है। तथा तीन स्थितियों में वस्त्र धारण करने की जो (श्वेताम्बरीय) आगम में अनुमति दी गई है, वह ऐकान्तिक नहीं है, अतः अचेलत्व ही श्रेयस्कर है।

५१. ''तस्मादनेषणीययादिदोषदुष्टवस्त्रपरिभोगेणैवाजिताचेलपरीषहत्वं भवति।'' हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५९४-९७।
अनुवाद—इसलिए अनेषणीयादि दोषों से दूषित वस्त्र का परिभोग करने से ही मुनि परीषहों को न जीतनेवाला होता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यहाँ क्षुधातृषापरीषहजय के दृष्टान्त से अचेलपरीषहजय की व्याख्या उचित नहीं है। आहारत्याग का नाम क्षुधातृषापरीषहजय नहीं है, अपितु निर्दोष आहार न मिलने पर अयोग्य आहार ग्रहण न करना और अकाल में भिक्षा की इच्छा न करते हुए क्षुधातृषा की वेदना को समभाव से सहना क्षुधातृषापरीषहजय कहलाता है। (स. सि. / ९ / ९)। एषणीय आहार के ग्रहण से अनेषणीय आहार का त्याग अपने-आप हो जाता है, उस समय क्षुधावेदना होती ही नहीं है, तब क्षुधापरीषहजय के लिए अवकाश ही नहीं रहता। उसके लिए अवकाश तब रहता है, जब एषणीय आहार न मिले। इस स्थिति में क्षुधा की वेदना होती है और उसे सहने का अवसर मिलता है। अतः एषणीय आहार न मिलने पर अकाल में भिक्षा की इच्छा न करते हुए क्षुधा की वेदना को समभाव से सहना क्षुधातृषापरीषहजय है।

इस प्रकार क्षुधातृषापरीषहजय के लिए आहार का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, किन्तु नाग्न्यपरीषहजय तो नग्नता के बिना संभव ही नहीं है। जब मुनि नग्न रहता है, तब उसके लोकविरुद्ध एवं बीभत्स रूप को देखकर लोग उसकी निन्दा कर सकते हैं, उस पर उपसर्ग कर सकते हैं तथा मुनि को भी स्वयं लज्जा आ सकती है और मन में कामविकार उत्पन्न हुआ, तो शरीर में अभिव्यक्त होने से घोर अपमान का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। अतः नग्न रहने पर उपस्थित होनेवाले लोकनिन्दा और उपसर्ग के प्रसंगों को धैर्यपूर्वक सहन करना तथा अपने नग्नरूप को देखकर लज्जित न होना और मन को काम से अभिभूत न होने देना नाग्न्यपरीषहजय है।

सार यह कि वस्त्रादि की संयमोपकारिता के साथ मेल बैठाने के लिए परीषहजय के आगमप्रसिद्ध अर्थ का जो यह अपलाप किया गया है, उसके अर्थ को बदला गया है, उससे दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है, क्योंकि परीषहजय की उक्त परिभाषा दिगम्बरत्व के साथ ही मेल खाती है।

१४

'यथाजातरूप' का हास्यास्पद अर्थप्ररूपण

निर्ग्रन्थ मुनि के नग्न-स्वरूप की भ्रान्तिरहित प्रतीति कराने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने 'यथाजातरूप-रूप' शब्द का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं॥ ९१॥ मोक्खपाहुड।

'यथाजातरूप' शब्द का अर्थ है माता के गर्भ से निकले हुए बालक का रूप- -"**यथाजातरूपं मातुर्गर्भनिर्गतबालकरूपम्**" (श्रुतसागरटीका / मो.पा./ गा.९१)। अतः

जैसे माता के गर्भ से निकला हुआ शिशु सर्वथा नग्न होता है, वैसे ही निर्ग्रन्थमुनि सर्वथा नग्न होते हैं। अर्थात् उनके शरीर के किसी भी अंग पर वस्त्र का सद्भाव नहीं होता। वैदिकपरम्परा के 'परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्' में भी बतलाया गया है कि कौपीन आदि समस्त परिग्रह का परित्याग कर देने पर यथाजातरूपसदृश रूप प्रकट होता है—"**कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्।**" (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्/ पृ.४१९)।

किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने व्याकरण, शब्दकोश, शास्त्रप्रमाण और लोकप्रमाण, सबको ठुकराकर 'यथाजातरूप' शब्द का मनमाना अर्थ करते हुए लिखा है कि "जैनश्रमण का यथाजातरूप मुखवस्त्रिका, रजोहरण, चोलपट्टक मात्र माना गया है।" (मानव-भोज्य-मीमांसा / पृ.४९२)।

संस्कृतभाषा का थोड़ा सा भी ज्ञान रखनेवाले मनुष्य को मुनि जी के इस अर्थ निरूपण पर हँसी आये बिना नहीं रहेगी, क्योंकि कोई भी बालक शरीर पर मुखवस्त्रिका, रजोहरण और चोलपट्टक धारण किये हुए माता के गर्भ से नहीं निकलता, अतः मुनि जी का इन उपकरणों से युक्त शरीर को जैन श्रमण का यथाजातरूप बतलाना विचित्र प्रतीत होगा। तथा इसे यथाजातरूप मानने पर तीर्थंकरों को भी मुखवस्त्रिका, रजोहरण और चोलपट्टक धारण करनेवाला मानना होगा, क्योंकि वे भी यथाजातरूपधर कहे गये हैं। किन्तु मनुष्य न तो मुखवस्त्रिका आदि धारण किये हुए जन्म लेता है, न ही तीर्थंकर इन्हें धारण करते हैं। अतः 'यथाजातरूप' का उपर्युक्त अर्थप्ररूपण प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध होने से हास्यास्पद है।

यथाजातरूप शब्द का प्रयोग अपने सम्प्रदाय के सचेल मुनि पर घटाने की लालसा से मुनि जी के द्वारा किया गया यह हास्यास्पद प्रयास सिद्ध करता है कि साधु का यथाजातरूप (सर्वथा निर्वस्त्र रूप) ही तीर्थंकरोपदिष्ट है, इसीलिए वह इतना पूज्य और आकर्षक है कि मुनि श्री कल्याणविजय जी जैसे श्वेताम्बर दार्शनिक अपने सम्प्रदाय के सचेल मुनियों को यथाजातरूपधर नाम से प्रसिद्ध करने का लोभ संवरण न कर सके। यथाजातरूप की तीर्थंकरोपदिष्टता एवं श्वेताम्बरमुनियों के लिए भी उक्त नाम की स्पृहणीयता इस बात का प्रमाण है कि यथाजातरूपधर दिगम्बरमुनियों की परम्परा तीर्थंकरों-जितनी ही प्राचीन है।

✧✧✧

तृतीय प्रकरण

वस्त्रादि संयम के साधक नहीं, घातक

श्वेताम्बर आचार्यों ने वस्त्रादि के मूर्च्छाहेतुत्व एवं ग्रन्थत्व का निषेध इस आधार पर किया है कि वे संयम के साधन हैं। उनके अनुसार जो संयम का साधन होता है, वह मूर्च्छा का हेतु नहीं होता, इसलिए ग्रन्थ भी नहीं होता। किन्तु निम्नलिखित कारणों से सिद्ध होता है कि वस्त्रादि संयम के साधन नहीं हैं—

१

वस्त्रादिग्रहण देहसुखसाधनार्थ

श्वेताम्बरसाहित्य में तीन प्रयोजनों से वस्त्रग्रहण करने की छूट दी गई है–१. लिंगविकृति-आच्छादनार्थ, २. कामविकार-निगूहनार्थ और ३. परीषहपीड़ा-निवारणार्थ। परीषह-पीड़ा के निवारण का अर्थ है देहसुख की प्राप्ति, क्योंकि शीतादिपरीषह उत्पन्न होने पर देह को जो प्रतिकूलवेदन होता है वह दुःख है और वस्त्रादि के उपयोग से प्रतिकूलवेदन की निवृत्ति होने पर जो अनुकूलवेदन होता है वह सुख है। कहा भी गया है—"**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं, अनुकूलवेदनीयं सुखम्।**"

प्रवचनपरीक्षाकार ने भी वस्त्रों को शीत, आतप, वात, दंशमशक आदि से उत्पन्न बाधाओं की चिकित्सा करनेवाली औषधि बतलाया है,[५२] जिससे ध्वनित होता है कि वस्त्र प्रतिकूल वेदनीयरूप दुःख के निवारक होने से अनुकूलवेदनीयरूप सुख के साधक हैं।

भगवती-आराधना में (जिसे पं० नाथूराम जी आदि विद्वानों ने यापनीयग्रन्थ मानने की भूल की है) कहा गया है—"शरीर इन्द्रियमय है। इन्द्रियमय शरीर के सुख के लिए ही वस्त्रादि ग्रहण किये जाते हैं। अतः जो वस्त्रग्रहण करता है, उसके भीतर इन्द्रियसुख की आकांक्षा है, यह सिद्ध होता है।"[५३]

भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"वस्त्र, चादर आदि इन्द्रियसुख के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि उनसे हवा, धूप आदि अनिष्ट स्पर्श का निरोध होता है।"[५४]

---

५२. "शीतातपवातदंशमशकादिबाधितस्य शरीरस्य तच्चिकित्सामात्रोपयोगिनि वस्त्रे ---।" प्रवचन-परीक्षा / वृत्ति / १ / २ / २८ / पृ.८९।

५३. इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं।
इंदियसुहाभिलासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो॥ ११५७॥ भगवती-आराधना।

५४. "परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकमिन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति, वातातपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय।" विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा.११५७।

सार यह कि देहदु:ख की निवृत्ति और देहसुख की प्राप्ति के लिए वस्त्रादि परद्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, अत: वस्त्रादिद्रव्य देहसुख के साधन हैं, संयम के नहीं। संयम की साधना तो वस्त्रादि परद्रव्य के उपभोग की निवृत्ति से होती है। इस प्रकार वस्त्रादि-परिग्रह का उपभोग इन्द्रिय-असंयम का कारण है और उसके उपार्जन तथा रक्षण के लिए मनुष्य विभिन्न प्रकार के हिंसादि पाप करता है, इसलिए प्राणि-असंयम का भी कारण है।

दशधर्मों के अन्तर्गत संयमधर्म की विवेचना करते हुए माननीय पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं—"संयम के सत्रह प्रकार हैं, जो भिन्न-भिन्न रूप में है : पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच अव्रतों का त्याग, चार कषायों का जय, तथा मन, वचन और काय की विरति। इसी प्रकार पाँच स्थावर और चार त्रस ये नौ संयम तथा प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मन:संयम और उपकरणसंयम, इस तरह कुल सत्रह प्रकार का संयम है।" (त.सू./ वि.स./ पा.टि.९ / ६,पृ.२१०)।

यहाँ संयम के सत्रह प्रकारों में पंचेन्द्रियनिग्रह सर्वप्रथम रखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि पंचेन्द्रियनिग्रह संयम की बुनियाद है। पंचेन्द्रियनिग्रह तभी होता है, जब इन्द्रियाँ परीषहों से पीड़ित हों और पीड़ा से निवृत्ति के लिए जिस इष्ट विषय की अपेक्षा हो, उसकी इच्छा भी मन में न आने दी जाय और पीड़ा को समभाव से सह लिया जाय। इस तरह जब स्पर्शन इन्द्रिय को शीतादिजन्य पीड़ा हो रही हो, तब वस्त्रादि का परिभोग न करते हुए शीतादि की पीड़ा को धैर्यपूर्वक सहने से ही स्पर्शनेन्द्रिय का निग्रह होता है। यदि इस समय वस्त्रादि का परिभोग कर लिया जाय, तो इन्द्रियनिग्रह न होकर इन्द्रिय-अनुग्रह हो जायेगा जो असंयम है। अभिप्राय यह कि परीषहपीड़ा की स्थिति में पीड़ानिवारक विषय का परिभोग न करने से ही इन्द्रियनिग्रहरूप संयम फलित होता है। आचारांग में भी कहा गया है कि तीन वस्त्रों में से क्रमश: एक-एक का त्याग करते हुए जब अन्तिम वस्त्र का भी त्याग कर दिया जाता है और साधु अचेल हो जाता है, तब कायक्लेश होने से तप की सिद्धि होती है।[५५]

यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि यदि साधु वस्त्रधारण नहीं करेगा तो अग्नि जलाकर शीतादिपरीषहजन्य पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करेगा, जिससे जीवहिंसा

५५.क— "अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ।" आचारांग / १/ ७/ ४/ २०९-२१०।

ख— "वस्त्रपरित्यागं कुर्वत: साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्।" शीलांकाचार्य-वृत्ति / आचारांग १/ ७/ ४/ २१०।

होने पर महान् असंयम होगा। युक्तिसंगत इसलिए नहीं है कि ठंड की पीड़ा मिटाने के लिए अग्नि के ताप का भी उपभोग इन्द्रियविषय का उपभोग है, जो इन्द्रियनिग्रह के विरुद्ध है, असंयम है। अतः संयम की सिद्धि के लिए अग्नि के ताप का सेवन भी निषिद्ध है। फलस्वरूप संयमी साधु वस्त्रों के अभाव में अग्नि के ताप का भी उपभोग नहीं कर सकता, जिससे अचेलावस्था में जीवहिंसारूप असंयम की आशंका के लिए स्थान नहीं है। यदि करता है, तो मुनिधर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने से मुनि ही नहीं रहता। अग्नि-तापोपभोग-रूप असंयम से बचने के लिए वस्त्रादि-उपभोगरूप असंयम की अनुमति तो मोक्षमार्ग में संभव ही नहीं है, क्योंकि दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं।

और जैसे अग्नितापसेवन के लिए प्रज्वलित की गई अग्नि हिंसा का कारण है, वैसे ही वस्त्रधारण भी हिंसा का कारण है। 'भगवती-आराधना' में कहा गया है—

"वस्त्रादि-परिग्रह में नाना प्रकार के सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाहर से भी आकर जूँ, चींटी, खटमल बगैरह बस जाते हैं।" (भ.आ./गा.'चेलादीया'११५२)।

"वस्त्रादि-परिग्रह के ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने, फाड़ने, झाड़ने, छेदने, बाँधने, ढाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदि से जीवों का घात होता है।" (भ.आ./गा. 'आदाणे णिक्खेवे' तथा 'छेदणबंधण'/११५३-५४)।

"यदि वस्त्रादि-परिग्रह से जन्तुओं को अलग किया जाय, तब भी वे ही दोष लगते हैं, क्योंकि उन जन्तुओं को दूर करने पर उनका योनिस्थान (उत्पत्तिस्थान) छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है।" (भ.आ./गा.'जदि वि' ११५५)।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थ पिण्डनिर्युक्ति में भी वस्त्रों के उपयोग को हिंसा का कारण बतलाया गया है। कहा गया है कि चीवर धोने में जीवों की हिंसा होती है, अतः वर्षाकाल के पहले ही धो लेना चाहिए। वर्षाकाल के पहले न धोने पर भी अनेक दोष होते हैं। उनमें मैल जमा हो जाता है और वर्षाकाल में जब शीतल कणों का स्पर्श होता है, तब मैल के गीले होने से उसमें 'पनक' नाम के वनस्पति प्रचुररूप से उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका घात होने से हिंसा होती है। (मलयगिरिवृत्ति/पिण्डनिर्युक्ति/गा. २३,२५)।

आगे कहा गया है कि पहनने, ओढ़ने और बिछाने के वस्त्रों में षट्पदिकाएँ (जूँ) उत्पन्न हो जाती हैं। उन्हें यत्न से दूसरे वस्त्र में संक्रमित करने के बाद ही वस्त्र धोने चाहिए। (वही/गा.२८)। वस्त्रों को पछाड़कर या कूटकर नहीं धोना चाहिए। धोकर अग्नि के ताप में नहीं सुखाना चाहिये, अन्यथा अग्नि में जल की बूँदे गिरने

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पर अग्निकाय जीवों की विराधना होती है। वस्त्रों को शोधकर धोना चाहिए। शोधन करने के बाद भी वस्त्रों में कुछ षट्पदिकाएँ रह जाती हैं, जिनका धोते समय मर्दन हो जाता है। फिर भी यदि जीवित बच जाती हैं, तो सूर्य के ताप से मर जाती हैं। अतः उनकी रक्षा के लिए वस्त्रों को छाया में सुखाना चाहिए। छाया या धूप में सूखने के लिए डाले गये वस्त्रों को निरन्तर देखते रहना चाहिये, ताकि चोर न ले जायँ। वस्त्र धोने में इतनी सावधानी बरतने के बाद भी वायुकायिकादि जीवों की विराधना-रूप अथवा जूँ-घातरूप असंयम भी होता ही है। उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है। (वही / गा. ३४)।

इस तरह श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से भी सिद्ध है कि वस्त्र असंयम के कारण हैं। उनके पहनने-ओढ़ने, धोने-सुखाने से त्रस और स्थावर जीवों का घात होता है और चोरी का भी भय रहता है, अतः अहिंसा और अपरिग्रह महाव्रतों का घातक होने से वस्त्रपरिभोग संयम का साधन नहीं, अपितु असंयम का साधन है।

दशवैकालिकसूत्र में पात्र को संयम का साधक कहा गया है, वस्त्र को नहीं। वस्त्र को केवल लज्जा का रक्षक बतलाया गया है। यथा—

जंपि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥

इसकी व्याख्या करते हुए हरिभद्र सूरि कहते हैं-"संयम के लिए पात्रादि ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि उनके बिना संयम का पालन संभव नहीं है। और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उसके बिना स्त्रियों की उपस्थिति में विशिष्ट श्रुतपरिणति आदि से रहित साधु में निर्लज्जता की उत्पत्ति हो सकती है।"[५६] निर्लज्जता की उत्पत्ति का अर्थ है स्त्रियों को देखकर कामविकार उत्पन्न होने पर लिंगोत्थान हो जाना।[५७] और लज्जा का अर्थ है वस्त्र द्वारा उसे छिपाना। इस प्रकार दशवैकालिक के अनुसार वस्त्र संयम के उपकारी नहीं है। किन्तु हरिभद्रसूरि ने लज्जा को ही संयम घोषित करके वस्त्र को भी संयम का साधक सिद्ध कर दिया,[५८] जो युक्तिसंगत नहीं है। वस्त्र कामविकार को छिपाता है, रोकता नहीं। कामविकार को छिपाकर वह साधु को निर्लज्जता से निर्भय बना देता है, जिससे साधु को निःशंक

---

५६. "**संयमलज्जार्थमिति**' संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयम-पालनाभावात्। लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्ज-तोपपत्तेः।" हारिभद्रीयवृत्ति / दशवैकालिकसूत्र ६/१९।

५७. हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५७५-७९।

५८. "अथवा संयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद् वस्त्रादि धारयन्ति।" हारि.वृत्ति / दश.वै.सू./ ६/ १९।

होकर मानसिक कामसेवन का अवसर मिल जाता है। इसलिए वह संयम का साधक न होकर असंयम की उत्पत्ति में सहायक होता है। भट्ट अकलंक देव ने कहा है कि जो कामविकारजन्य अंगविकृति को छिपाने के लिए कौपीन, फलक या चीवर धारण करते हैं, उनके केवल अंग का संवरण होता है, कर्मों का नहीं।[५९] अर्थात् वस्त्रधारण मानसिक कामविकार के निरोध में असमर्थ होने के कारण तज्जन्य अशुभ कर्म के संवर में समर्थ नहीं है। अतः वस्त्रधारण संयम का साधक नहीं है, अपितु विघातक है। जो मुनि होते हुए कामविकार से ग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें वस्त्रग्रहण कर उसे छिपाने की आवश्यकता नहीं है, अपितु मुनि पद त्यागने की आवश्यकता है। तथा जो यह कहा गया है कि शीतादिपरीषह से पीड़ित साधु समितियों का पालन नहीं कर सकता, वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि शीतादिपरीषह सहन करना साधु का धर्म है, और उसमें अभ्यस्त साधु समितियों का पालन सम्यग्रूपेण कर सकता है। यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है कि हीनसंहननवाला साधु भी परीषहसहन करने में समर्थ होता है। फिर भी यदि यह माना जाय कि वर्तमान में उत्तम संहनन न होने से परीषहजय संभव नहीं है, अतः वस्त्रपरिभोग अनिवार्य है, तो यह भी मानना होगा कि देहसुख के लिए वस्त्ररूप इन्द्रियविषय का परिभोग असंयम है, अतः उससे कर्मबन्ध भी अनिवार्य है। परिणामतः वस्त्रपरिग्रह मोक्ष का मार्ग नहीं है, अपितु संसार का ही मार्ग है। इसलिए जो परीषह सहने में असमर्थ हैं, उन्हें श्रावकधर्म का पालन करते हुए उत्तमसंहनन पाने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

इस तरह सिद्ध है कि वस्त्र संयम के साधक नहीं हैं, अपितु उपघातक हैं, अतः यह कथन मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि संयमसाधक होने से वस्त्रधारण परिग्रह नहीं है। भिक्षापात्र भी संयम के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि सुरचित पाणिपात्र में भी थोड़ा-थोड़ा दुग्धादि तरल पदार्थ ग्रहण करते हुए यत्नाचार पूर्वक सेवन करने से दुग्धादि की बूँदें भूमि पर नहीं गिर पातीं। थोड़ी बहुत गिरती भी हैं, तो मुनि के आहार-स्थान में श्रावक के द्वारा नीचे रखे गये वस्त्र से ढँके हुए चौड़े मुँहवाले वर्तन में गिरती हैं, जिससे भूमिगत सूक्ष्म जीवों के घात का अवकाश नहीं होता। तथा सुरचित पाणिपात्र में दुग्धादि द्रव पदार्थ परिमित मात्रा में ग्रहण किया जाता है, जिससे उसके स्रवित होने की संभावना नहीं रहती, और उसका अच्छी तरह निरीक्षण करना संभव होता है, इस तरह जीवघात के लिए स्थान नहीं रहता। तथा रुग्ण साधुओं को आहारदान करने हेतु अन्य मुनि श्रावकों को संकेत कर देते हैं, जिससे वे स्वयं मुनि की वसतिका में आहार लेकर उपस्थित हो जाते हैं और मुनि को उनके ही

५९. "इतरे पुनर्मनोविक्रियां निरोद्धुमसमर्थास्तत्पूर्विकाङ्गविकृतिं निगूहितकामाः कौपीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठन्ते अङ्गसंवरणार्थमेव तन्न कर्मसंवरणकारणम्।" तत्त्वार्थराजवार्तिक / ९/९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पाणिपात्र में आहारदान करते हैं। अतः इस प्रयोजन से भी मुनियों को पात्र रखने की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी यदि पात्र रखा जाता है, तो उसका प्रयोजन यत्नाचार के कष्ट से बचना ही होता है, अतः वह देहसुख का साधन है, संयम का नहीं।

२

संयमध्यानादि की सिद्धि परीषहजय से

वस्त्रपरिभोग के समर्थन में यह तर्क दिया गया है कि शीतादिपरीषह उत्पन्न होने पर उससे आर्त्तध्यान का निवारण होता है, जिससे अग्निप्रज्वलन की आवश्यकता न रहने से अहिंसा-संयम का पालन होता है तथा ध्यान और अध्ययन की साधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है।[६०] जैसे क्षुधादिपीड़ित शरीर संयम का साधक नहीं होता, वैसे ही शीत, आतप, दंशमशक आदि से पीड़ित शरीर भी संयम का साधक नहीं है। अतः जैसे क्षुधादि की पीड़ा का निवारण करने के लिए आहार ग्रहण किया जाता है, वैसे ही शीतादि की पीड़ा का निरोध करने के लिए वस्त्रग्रहण आवश्यक है।[६१]

यह तर्क अत्यन्त अनर्थकर है। इससे स्त्रीसेवन और अनंगक्रीड़ा का भी औचित्य सिद्ध होता है। यदि शीतादि-पीड़ित शरीर संयम, ध्यान, अध्ययन आदि में बाधक है, अत एव वस्त्र के उपयोग से शीतादि की पीड़ा का निवारण आवश्यक है, तो काम से पीड़ित शरीर भी संयम, ध्यान, अध्ययन आदि में बाधक होता है और थोड़ा नहीं, सर्वाधिक बाधक होता है, अतः कामपीड़ा के निवारण के लिए भी स्त्रीसेवन या अनंगक्रीडा की आवश्यकता सिद्ध होती है। और स्त्रीदर्शन से साधु के कामविकारग्रस्त हो जाने की संभावना प्रकट की ही गयी है, जिसे छिपाने के लिए वस्त्रग्रहण प्रधानतया आवश्यक बतलाया गया है। वस्त्र द्वारा कामविकार को छिपाने से वह शान्त नहीं

---

६०. "सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावत् शीतार्तानां त्राणं साधूनामार्तध्यानापहरणं क्रियते। --- कल्पाः प्रावृताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्यायध्यानसाधनं कुर्वन्ति शीतार्त्यपहरणादिति।" हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७५-७९।

६१. क—"यथा तवेष्टसंयमहेतुशरीरस्य स्थितिहेतवे अशनादिकं गृह्यते तर्हि तादृक्शरीरपरिपालननिमित्तेन वस्त्रादिना किमपराद्धम्? तस्माद्यथा क्षुधादिपीडितं शरीरं न संयमहेतुस्तथा शीतातपदंशमश-कादिपीडितमपीति बोध्यम्।" प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / १/२/२९ / पृ. ९१।

ख—"वस्त्रैः शीतोष्णकालादिषु शीतातपदंशमशकैर्या पीडा तया रहितस्य सद्ध्यानं धर्मशुक्ललक्षणं स्याद्। वस्त्राभावे च क्षुधाद्यनाकुलस्यापि दुर्ध्यानम् अग्नितृणादिसेवाभिप्रायेण दुर्ध्यानं, तत्सेवने चासंयमः स्यात्।" प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति १/२/३०/पृ. ९१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हो सकता। और साधु जब तक कामार्त्त है, तब तक उसके मन का ध्यान-अध्ययन में लगना असंभव है। शीतादि की पीड़ा तो ऋतुविशेष में ही होती है, कामपीड़ा तो कभी भी हो सकती है। अतः कामपीड़ा से पीड़ित होने के अवसर प्रचुर हैं। फलस्वरूप कामपीड़ा से ही ध्यान-अध्ययन में विघ्न के सर्वाधिक अवसरों के उपस्थित होने की संभावना रहती है। तब क्या ध्यान-अध्ययन को संभव बनाने के लिए कामपीड़ा-निवारण हेतु स्त्रीसेवन या अनंगक्रीडा करना उचित है? यदि नहीं, तो कामपीड़ा के निवारण का अन्य क्या उपाय है? धर्म का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति कामविजय के अतिरिक्त और कौनसा उपाय बतला सकता है? आगम में यही उपाय बतलाया गया है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन और वैराग्यपूर्वक श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का क्रमशः अवलम्बन करते हुए कामपरीषह को सहने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास हो जाने पर ही दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करना उचित है, अन्यथा नहीं। दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करने के बाद यदि कभी कामपरीषह होता है, तो उसके दोषों का चिन्तन करते हुए उस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। यही ब्रह्मचर्य-महाव्रतरूप संयम का पालन है।

इसी प्रकार आहार में अन्तराय आदि हो जाने पर जो क्षुधातृषापरीषह की पीड़ा होती है तथा शीतादिऋतु में शीत, दंशमशक आदि परीषहों का क्लेश होता है, उसे भी धैर्यपूर्वक सहन कर परीषहजय करना आवश्यक है। परीषहजय ही संयम है। वही ध्यान है, क्योंकि परीषहजय में शीतादि अनिष्ट वस्तु से द्वेष न रहने के कारण समभाव की सृष्टि होती है, जो ध्यान का स्वरूप है। अतः वही निर्जरा का उपाय है। परीषहपीड़ा को धैर्यपूर्वक सहन न कर अशन-वस्त्रादि के उपभोग द्वारा शान्त कर लेने से विषयभोगरूप असंयम की उत्पत्ति होती है, जो कर्मबन्ध का कारण है।

तथा परीषहजय का अभ्यास हो जाने पर ध्यान-अध्ययन भी निर्विघ्न सम्पन्न होते हैं। इसके विपरीत जिसका ध्यान-अध्ययन वस्त्रादिपरद्रव्य के उपभोग पर आश्रित है, उसका अधिकांश समय वस्त्रादि की व्यवस्था में ही लग जाता है, जिससे स्वाध्याय, ध्यान के लिए अवसर ही नहीं रहता। 'भगवती-आराधना' में कहा गया है कि "परिग्रह के ग्रहण, रक्षण और सार-सम्हाल में सदा लगे रहने वाले पुरुष का मन उसी में व्याकुल रहता है, तब स्वाध्याय छूट जाने से शुभध्यान कैसे हो सकता है?"[६२]

परिग्रहजन्य आकुलताओं को स्पष्ट करते हुए टीकाकार अपराजित सूरि लिखते हैं—"इष्ट परिग्रह को खोजने में कष्ट होता है। वह मिल भी जाय, तो उसके स्वामी

---

६२. गंथस्स गहण-रक्खण-सारवणाणि णियदं करेमाणो।
विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ॥ ११५८॥ भगवती-आराधना।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

को ढूँढ़ने में कष्ट होता है। स्वामी मिल जाय, तो उससे याचना करनी पड़ती है। याचना करने पर मिल जाय, तो सन्तोष होता है, न मिले तो मन में दीनता का भाव आता है। मिलने पर उसको लाना, उसका संस्कार करना, उसकी रक्षा करना, इत्यादि कार्यों के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस तरह परिग्रह अनेक आकुलताओं का घर है। परिग्रह का त्यागकर निर्ग्रन्थ बन जाने पर ये आकुलताएँ नहीं रहतीं। फलस्वरूप साधु के ध्यान और स्वाध्याय निर्विघ्न चलते हैं। इस तरह समस्त तपों में ध्यान और स्वाध्याय प्रमुख हैं और परिग्रह का त्याग उनका उपाय है।''[६३]

'पिण्डनिर्युक्ति' में कहा गया है कि वस्त्रों को धोकर छाया में सूखने के लिए डालना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए की चोर चुराकर न ले जायँ। अब बताइये, जिसका मन वस्त्रों को चोरों से बचाने की चिन्ता में लगा हुआ हो, वह ध्यान में एकाग्र कैसे हो सकता है?

निष्कर्ष यह कि ध्यान और अध्ययन भी वस्त्रादि की पराधीनता से मुक्त होने पर ही संभव हैं। और वस्त्रादि की अधीनता से मुक्ति परीषहजय के अभ्यास से संभव है। तथा जब साधु काम जैसे दुर्निवार परीषह को सहन करने में समर्थ हो सकता है, तब शीतादिपरीषहों की पीड़ा तो उसके सामने बहुत तुच्छ है। कामजयी के लिए शीतादिजय बायें हाथ का खेल है। जो परीषहजय में समर्थ नहीं है, वह ध्यान में भी समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रादि धारण करते हुए भी कोई अन्य वेदना उपस्थित हो जाने पर उसके मन का तुरन्त ध्यान से विचलित हो जाना अवश्यंभावी है। यह पहले ही बतला दिया गया है कि हीन संहननों के होने पर भी आठवें गुणस्थान के नीचे धर्मध्यान संभव है,[६४] जिससे सिद्ध होता है कि हीनसंहननवाला भी परीषहजय कर सकता है।

इस तरह सिद्ध है कि संयम, ध्यान, स्वाध्याय आदि की सिद्धि परीषहजय से ही संभव है, वस्त्रादि के परिभोग द्वारा परीषहपीड़ा का निवारण करने से नहीं।

३

वस्त्रादिग्रहण इष्टराग-अनिष्टद्वेष का फल

मनुष्य वस्त्रादि-परद्रव्य का ग्रहण तभी करता है, जब उसे शीतादिपरीषहों से द्वेष और उनका निवारण करनेवाले वस्त्रादिपदार्थों से राग होता है। अतः वस्त्रादि का

---

६३. हिन्दी अनुवाद-विजयोदयाटीका / भ.आ./ गा. 'संगपरिमग्गणादी' ११६७।

६४. ''अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति।'' ब्रह्मदेववृत्ति / बृहद्द्रव्यसंग्रह / गा. ५७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ग्रहण रागद्वेष का फल है। और जहाँ इष्ट से राग और अनिष्ट से द्वेष है, वहाँ समभावरूप ध्यान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? **ज्ञानार्णवकार** कहते हैं—

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः॥ २४/१३॥

अनुवाद—"सर्वज्ञ ने साम्य को ही परमध्यान कहा है। शास्त्रों में जो अन्य आचारों का वर्णन है, उनका उद्देश्य साम्य को ही अभिव्यक्त करना है।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने इष्टानिष्ट पदार्थों में समभाव रखनेवाले को ही शुद्धोपयोगी अर्थात् वीतरागधर्मध्यानी या शुक्लध्यानी कहा है—"**समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।**" (प्र.सा./१/१४)।

योगी सदा समभाव को ही प्राप्त करने की भावना करता है। यथा—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ॥ ३॥

भावनाद्वात्रिंशतिका।

अभिप्राय यह कि जहाँ शीत, उष्ण, दंशमशक आदि अनिष्ट पदार्थों से द्वेष नहीं होता (अनिष्टवियोग की इच्छा नहीं होती) और वस्त्रादि इष्ट पदार्थों से राग नहीं होता (इष्टसंयोग की इच्छा नहीं होती) वहाँ ही समभावरूप ध्यान की सिद्धि होती है। जहाँ शीतादिपरीषहों से द्वेष होता है (अनिष्टवियोग की इच्छा होती है) और उन्हें दूर करनेवाले वस्त्रादि पदार्थों से राग होता है (इष्टसंयोग की इच्छा होती है) वहाँ समभाव न होने से ध्यान की सिद्धि असंभव है।

४

वस्त्रपात्रादिपरिग्रह मूर्च्छा का फल

चूँकि वस्त्रपात्रादि कथञ्चित् भी संयम के साधन नहीं हैं, वे परीषहपीड़ा-निवारण या देहसुख के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं, अतः परीषहपीड़ा-निवारण या देहसुख की इच्छा मूर्च्छा है और वस्त्रपात्रादि का ग्रहण मूर्च्छा का फल। अतः दोनों ही परिग्रह हैं। किन्तु देह और आहार एकान्ततः देहसुख के साधन नहीं हैं, संयम के भी साधन हैं। देह संयम का साक्षात् साधन है और आहार देहधारण या प्राणधारण का साधन होने से संयम का परम्परया साधन है। चूँकि देह इन्द्रियसुख का भी आधार है और आहार क्षुधातृषापरीषहजन्य पीड़ा के निवारण द्वारा देहसुख का भी साधन है, अतः जब इन प्रयोजनों से देह को कायम रखने की और आहार ग्रहण करने की इच्छा की जाती है, तब वह इच्छा मूर्च्छा होती है और देह का संग तथा आहार का ग्रहण

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मूर्च्छा के फल। किन्तु जब देह और आहार की इच्छा संयम की साधना के लिए की जाती है, तब न तो वह इच्छा मूर्च्छा होती है, न देह का संग और आहारग्रहण मूर्च्छा के फल। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि आहार प्राणधारण करने का साधन है, किन्तु वस्त्रपात्रादि प्राणधारण के साधन नहीं हैं। इसलिए दोनों में साम्य न होने से आहारग्रहण के औचित्य से वस्त्रपात्रादिग्रहण का औचित्य नहीं ठहराया जा सकता। यदि आहार प्राणधारण का साधन न होता, तो मात्र क्षुधातृषाजन्य पीड़ा के निवारण अर्थात् देहसुख का साधन होने से वह भी वर्जनीय होता, क्योंकि मोक्षसुख के लिए देहसुख का त्याग और कायक्लेश का अंगीकार अनिवार्य बतलाया गया है।

कामविकार-निगूहन के लिए भी वस्त्र की इच्छा करना मूर्च्छा है, क्योंकि यह इच्छा भी नाग्न्यपरीषहजय और स्त्रीपरीषहजय की अक्षमता से उत्पन्न होती है। तथा लिंगविकृतिजन्य जुगुप्सा के निवारण के लिए वस्त्र की इच्छा अनावश्यक है, क्योंकि ऐसा पुरुष दैगम्बरी दीक्षा का पात्र ही नहीं है।

यदि कोई पुरुष इन परीषहों को सहने में समर्थ नहीं है, तो वह कर्मों की निर्जरा का भी अधिकारी नहीं है, क्योंकि आगम में निर्जरा के लिए परीषह-सहन अनिवार्य बतलाया गया है—'**मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः**'(त.सू./ ९/८)। परीषहजय में असमर्थ पुरुष को श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का अवलम्बन कर परीषहजय का अभ्यास करना चाहिए। परीषहजय का सामर्थ्य अर्जित हो जाने पर ही दैगम्बरीदीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि यह भी संभव न हो, तो सामान्य-श्रावकधर्म के अभ्यास द्वारा परम्परया परीषहजय-योग्य शक्ति के विकास की साधना करनी चाहिए, किन्तु दैगम्बरीदीक्षा ग्रहण करने की अनधिकृत चेष्टा कदापि करणीय नहीं है।

५

परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपभोग मूर्च्छा का लक्षण

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि वस्त्रपात्रादि रखना परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा होना परिग्रह है। किन्तु उनमें मूर्च्छा है या नहीं इसकी कसौटी क्या है? मूर्च्छा यदि बाह्य प्रवृत्ति में अभिव्यक्त न होती हो, तो मूर्च्छात्यागरूप अपरिग्रह के अणुव्रत और महाव्रतरूप भेद करना संभव नहीं है।

यदि मूर्च्छा का बाह्य वस्तुओं के संग्रह से सम्बन्ध न माना जाय, तो मूर्च्छा के एक-देशत्याग और पूर्णत्याग के भेद का निर्धारण किस आधार पर होगा? यह निर्णय कैसे होगा कि अमुक व्यक्ति ने मूर्च्छा के एकदेशत्याग का व्रत ग्रहण किया है और अमुक ने पूर्णत्याग का व्रत। यदि बाह्यपरिग्रह के त्याग की इसमें बिलकुल भी अपेक्षा न हो, तो अपरिमित धनधान्य का अर्जन, संरक्षण और संस्कार करते हुए

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भी कोई कह सकता है कि मैं मूर्च्छा का पूर्ण त्यागी हूँ। और रंचमात्र भी पर द्रव्य का अर्जन-रक्षण आदि न करने वाले दिगम्बरजैन मुनि के भी विषय में कहा जा सकता है कि वह मूर्च्छा का किंचित् भी त्यागी नहीं है।

मूर्च्छा के एकदेशत्याग और पूर्णत्याग का कोई बाह्य लक्षण निर्धारित हुए बिना अपरिग्रहाणुव्रत और अपरिग्रहमहाव्रत का उपदेश भी नहीं दिया जा सकता। अणुव्रतों और महाव्रतों का उपदेश बाह्य द्रव्य के आधार पर ही दिया गया है। जैसे त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा मात्र के त्याग को अहिंसाणुव्रत कहा गया है, और त्रस तथा स्थावर जीवों की संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी, चारों प्रकार की हिंसा के त्याग को अहिंसा महाव्रत नाम दिया गया है। लोकप्रसिद्ध असत्य वचन के त्याग को सत्याणुव्रत और लोक तथा शास्त्र, उभयप्रसिद्ध असत्यवचन के त्याग को सत्यमहाव्रत कहा गया है। धन की परिभाषा में आनेवाली दूसरे की वस्तु को बिना दिये लेने का त्याग अचौर्याणुव्रत है और धन की परिभाषा में न आनेवाली वस्तु के भी अदत्तादान का त्याग अचौर्यमहाव्रत बतलाया गया है। परस्त्री के त्याग को 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' संज्ञा दी गई है और स्वस्त्री-परस्त्री दोनों के त्याग को 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' संज्ञा। इसी प्रकार क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास-दासी, कुप्य, भाण्ड आदि वस्तुओं के एकदेशत्याग या परिमित करने को अपरिग्रहाणुव्रत कहा गया है और सम्पूर्ण त्याग को अपरिग्रहमहाव्रत। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बरमान्य और श्वेताम्बरमान्य दोनों पाठों में क्षेत्र, वास्तु आदि उपर्युक्त वस्तुओं के प्रमाण के उल्लंघन को अपरिग्रह-अणुव्रत का अतिचार बतलाया गया है।[६५] इससे स्पष्ट है कि आगम में क्षेत्रादिबाह्य वस्तुओं के एकदेशत्याग को व्यवहारनय से मूर्च्छा का एकदेशत्याग माना गया है, क्योंकि क्षेत्रादि बाह्य वस्तुओं के एकदेशत्याग से तत्सम्बन्धी अर्जन, रक्षण और संस्काररूप मूर्च्छा का अभाव हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने **'मूर्च्छा परिग्रहः'** (त.सू./७/१७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए बाह्य वस्तुओं के अर्जन, संरक्षण आदि प्रवृत्तियों को मूर्च्छा कहा है।[६६] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त क्षेत्रादि बाह्य पदार्थों का सर्वथा त्याग, व्यवहारनय से मूर्च्छा का सर्वथा त्याग माना गया है, क्योंकि उनके सर्वथा त्याग से तद्विषयक अर्जन, रक्षण और संस्काररूप मूर्च्छा का पूर्णतः अभाव हो जाता है।

किन्तु बाह्य पदार्थों का त्याग निश्चयनय से मूर्च्छा का त्याग नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी उनकी इच्छा विद्यमान रह सकती है। इसलिए आगम में इच्छाविरमण को अपरिग्रह कहा गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इच्छा

६५. "क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।" तत्त्वार्थसूत्र/वि.स./७/२९।

६६. "का मूर्च्छा? बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यापृतिर्मूर्च्छा।" सर्वार्थसिद्धि/७/१७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का त्याग मूर्च्छा का त्याग है। भगवती-आराधनाकार ने अपरिमित इच्छा से विरत होने को अपरिग्रह-अणुव्रत कहा है।[६७] इससे सिद्ध होता है कि परिमित इच्छा से भी विरत होना अर्थात् इच्छा का पूर्णत्याग अपरिग्रहमहाव्रत है। इन लक्षणों से मूर्च्छा के एकदेशत्याग और पूर्णत्याग का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् मूर्च्छा और इच्छा पर्यायवाची हैं। कसायपाहुड[६८] और समवायांगसुत्त[६९] (श्वेताम्बर-आगम) में भी इन दोनों को एकार्थक कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी **'अपरिग्गहो अणिच्छो'** (स.सा./ २१०) इस उक्ति द्वारा मूर्च्छा, इच्छा और परिग्रह को समानार्थी निरूपित किया है, जिसे व्याख्याकार अमृतचन्द्रसूरि ने **'इच्छा परिग्रहः'** (आ.ख्या./ स.सा.२१०) कहकर स्पष्ट किया है। चूँकि मूर्च्छा, इच्छा और परिग्रह पर्यायवाची हैं, इसलिए इच्छा का एकदेशत्याग मूर्च्छा या परिग्रह का एकदेशत्याग है और इच्छा का सर्वथा त्याग मूर्च्छा या परिग्रह का सर्वथा त्याग है। इच्छा का एकदेश त्याग होने पर बाह्य वस्तुओं का एकदेश त्याग स्वतः फलित होता है और इच्छा का सर्वथा त्याग होने पर क्षेत्रादि बाह्य वस्तुओं का और जो परीषहपीड़ा से बचने के लिए आवश्यक होते हैं, उन समस्त पदार्थों का अपने-आप त्याग होना अनिवार्य है। **अतः यद्यपि बाह्य वस्तुओं का त्याग मूर्च्छा के अभाव का अनिवार्य लक्षण नहीं है, तथापि उनका अत्याग या ग्रहण मूर्च्छा के सद्भाव का अनिवार्य लक्षण अवश्य है।**

अब यह विचारणीय है कि **गृहत्यागी मुनि के पास किन पदार्थों के सद्भाव से मूर्च्छा का सद्भाव सूचित होता है? इसकी कसौटी एक ही है, और वह है परीषहपीड़ा-निवारक वस्तुओं का सद्भाव।** परीषहपीड़ा-निवारक वस्तुओं का निर्धारण करने पर ज्ञात होता है कि शरीर परीषहपीड़ा-निवारक वस्तुओं में शामिल नहीं है, क्योंकि वह तो परीषहपीड़ा का आधार है। परीषहपीड़ा उसके ही माध्यम से होती है। आहार और औषधि भी उन वस्तुओं में से नहीं हैं, क्योंकि ये प्राणधारण के भी साधन हैं, अतः जब मुनि इन्हें परीषहपीड़ा-निवारण के लिए ग्रहण न कर प्राणधारण के लिए ग्रहण करता है, तब ये परीषहपीड़ा-निवारक नहीं होते। पिच्छी और कमण्डलु स्पष्टतः परीषहपीड़ा-निवारक नहीं है, अपितु संयम और शुद्धि के साधन हैं। इनके अतिरिक्त जितनी भी वस्त्रपात्रादि वस्तुएँ हैं वे शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों की पीड़ा से बचने के साधन हैं, प्राणधारण के नहीं। इसलिए मुनि के पास इनका सद्भाव होने पर मूर्च्छा का सद्भाव सूचित होता है। किसी मुनि के द्वारा इन पदार्थों

---

६७. पाणवध-मुसावादादत्तादाण-परदारगमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं॥ २०७४॥ भगवती-आराधना।

६८. "इच्छा मुच्छा य गिद्धी य।" कसायपाहुड/गाथा ८९।

६९. "लोभे इच्छा मुच्छा।" समवायांग/समवाय ५२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का उपभोग किये जाने से यह भी सिद्ध होता है कि वह आहार-ओषधि का भी सेवन प्राणधारण के साथ-साथ परीषहपीड़ा-निवारण के लिए करता है। अतः उसके लिए आहार-ओषधि भी परीषहपीड़ा-निवारक अर्थात् देहसुख-साधक हो जाते हैं, इसलिए देह में उसकी मूर्च्छा सिद्ध होने से देह भी उसके लिए परिग्रह बन जाती है। **सार यह कि जो मुनि परीषहपीड़ा-निवारक वस्त्रादि पदार्थों का सेवन करते हैं, उनका वस्त्रादि में मूर्च्छा का भाव नियम से सूचित होता है, भले ही इनका सेवन न करनेवालों में मूर्च्छा का अभाव नियम से सूचित न हो।**

इस तरह हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दशवैकालिकसूत्र का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि "साधु संयम और लज्जा के लिए जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रौंछन आदि रखता है वह परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा होना परिग्रह हैं।" इस कथन के युक्तिसंगत न होने का कारण यह है कि ये सब वस्तुएँ परीषहपीड़ा-निवारक हैं, अतः इनका पास में रखा जाना नियम से मूर्च्छा के सद्भाव का सूचक है, ये मूर्च्छा के फल हैं। जब इनका ग्रहण ही मूर्च्छा का फल है, तब इनके होने पर मूर्च्छा न हो, यह असंभव है। अतः वस्त्रपात्रादि का रखना-मात्र परिग्रह है।

६
वस्त्रपात्रादि का संग मूर्च्छा का हेतु

यतः वस्त्रपात्रादि का परिग्रह मूर्च्छा का फल है, अतः मूर्च्छा का जनक है। वस्त्रपात्रादिपरिग्रह से उसके अर्जन, संस्करण और संरक्षण की चिन्ता उत्पन्न होती है। यह मूर्च्छा का लक्षण है। यह तो श्वेताम्बरीय ग्रन्थ पिण्डनिर्युक्ति में भी कहा गया है कि वस्त्रों को धोकर सुखाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें चोर चुराकर न ले जायँ। और विशेषावश्यकभाष्य का भी कथन है कि वस्त्रादि की चोरी का भय होने से संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान होता है, यद्यपि वहाँ उसे मोक्षसाधनभूत-वस्त्रादि निमित्तक मानकर प्रशस्त मान लिया गया है।[७०]

भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने भी कहा है—"परिग्रह छह प्रकार के जीवों की पीड़ा का मूल तथा मूर्च्छा का निमित्त है, इसलिए समस्त परिग्रह का त्याग पाँचवाँ अपरिग्रह महाव्रत है।"[७१] और आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में विज्ञापित करते हैं—

---

७०. "यद्येवम्, तर्हि तथा तेनागमप्रसिद्धेन यतनाप्रकारेणेहापि वस्त्रादौ संरक्षणानुबन्धविधानं कथं न प्रशस्तम्।' हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७०-७१।

७१. "परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चमं व्रतम्।" विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा. 'आचेलक्कु' ४२३ / पृ.३३१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥ ३/२१॥

अनुवाद—"बाह्यपरिग्रह के रहने पर मुनि मूर्च्छा, आरंभ और असंयम से कैसे बच सकता है? और जो परद्रव्य में आसक्त है उसके लिए आत्मा की साधना कैसे संभव है?"

अतः यह मानकर चलना कि वस्त्रपात्रादि संयम के साधन हैं और संयम के साधनों में मूर्च्छा नहीं होती, इसलिए वे ग्रन्थ नहीं हैं, अमनोवैज्ञानिक और अप्रामाणिक है। बोटिक शिवभूति के कथानक में बतलाया गया है कि साधुदीक्षा लेने के बाद उसे राजा ने एक रत्नकम्बल भेंट किया था। उसमें उसे मूर्च्छा (राग) हो गई थी। इसलिए गुरु ने उसे फाड़कर पादप्रौञ्छन बना दिये थे। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि परद्रव्य का संग मूर्च्छा की उत्पत्ति का निमित्त बनता है। इसी कारण तो मुनियों के लिए स्त्रियों के साथ एकान्त में रहना वर्जित किया गया है। अतः परद्रव्य का संग जितना कम होगा, मूर्च्छोत्पत्ति के अवसर उतने ही कम रहेंगे। इसीलिए परीषहों को सहने का उपदेश दिया गया है, ताकि परीषहजनित कष्टों से बचने के लिए परद्रव्य की इच्छा उत्पन्न न हो और उसका परिग्रह न करना पड़े।

७

वस्त्रपात्रादिसंग भय-कषायादि का हेतु

इसमें सन्देह नहीं कि वस्त्रपात्रादि के संग से उनमें राग उत्पन्न होता है, चोरों से भय पैदा होता है और उनकी रक्षा के लिए संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान की उत्पत्ति होती है। इसलिए मनःस्थिति के आकुलतामय बने रहने से स्वाध्याय और ध्यान संभव नहीं होते। इस तरह वस्त्रपात्रादि संयम में साधक न होकर बाधक ही होते हैं। वस्त्रादि के भय-कषायादि के हेतु होने की बात आर्यकृष्ण और जिनभद्रगणी भी स्वीकार करते हैं। फिर भी उन्होंने वस्त्रादि के संग को अपरिग्रह सिद्ध करने की चेष्टा की है। वे 'विशेषावश्यकभाष्य' में कहते हैं—"भयकषाय आदि तो शरीर के निमित्त से भी उत्पन्न होते हैं, किन्तु वह मोक्षसाधक होता है, अतः भयकषायादि का हेतु होते हुए भी परिग्रह नहीं है। इसी प्रकार वस्त्रपात्रादि भी मोक्षसाधक होते हैं, इसलिए भयादि के हेतु होने पर भी वे परिग्रह नहीं हैं।"[७२]

---

७२. गुरुणाऽभिहिओ जइ जं कसायहेऊ परिग्गहो सो ते।
तो सो देहो च्चिय ते कसायउप्पत्तिहेउ त्ति॥२५५८॥ शेष अगले पृष्ठ पर...

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किन्तु यह तर्क समीचीन नहीं है। क्योंकि, प्रथम तो शरीर सभी के लिए भय-कषाय आदि का कारण नहीं होता। जिन्हें उसमें मूर्च्छा होती है, उन्हीं के लिए होता है। मूर्च्छारहित मुनि न तो शरीर से राग करता है, न सिंहादि हिंस्रपशुओं से भयभीत होता है, न ही उसे शरीर के संरक्षण की चिन्ता होती है। किन्तु वस्त्रादि तो मूर्च्छा के ही कारण हैं, अतः उनमें सभी को मूर्च्छा होती है। फलस्वरूप वे सभी के लिए भयकषायादि के हेतु हैं। दूसरे, शरीर शरीरनामकर्म और आयुकर्म के उदय के कारण जन्म से ही आत्मा के साथ संश्लिष्ट होता है, किन्तु वस्त्रपात्रादि जन्म से आत्मा के साथ संश्लिष्ट नहीं होते। इसलिए आत्मा न तो मूर्च्छा के कारण शरीर को ग्रहण करता है, न ही मूर्च्छा का अभाव होने पर उसे त्यागने में समर्थ होता है, जबकि वस्त्रपात्रादि का ग्रहण मूर्च्छा के ही कारण करता है, और मूर्च्छा का अभाव होने पर उनका परित्याग कर देता है। तीसरे, जो वस्त्रपात्रादि कषाय, भय और रौद्रध्यान के हेतु होने से संसार के कारण हैं, उन्हें मोक्ष का साधन कहना स्वविरोधी कथन है।

निष्कर्षतः वस्त्रपात्रादि संयम के साधक न होकर बाधक ही हैं, अतः उनका ग्रहण परिग्रह ही है, अपरिग्रह नहीं।

८

वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी

तत्त्वार्थसूत्र में, जो श्वेताम्बरों को भी मान्य है, कहा गया है कि संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को समभाव से सहना चाहिए—"**मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः**" (९/८)। और आचारांग का कथन है कि नग्न रहने पर ही भिक्षु परीषहों को भलीभाँति सहन करता है और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। (१/७/७/२२१)। इससे स्पष्ट है कि वस्त्रधारण

अह ते न मोक्खसाहणमईए गंथो कसायहेऊ वि।
वत्थाइ मोक्खसाहणमईए सुद्धं कहं गंथो?॥ २५६१॥
जइ भयहेऊ गंथो तो नाणाईण तदुवघाईहिं।
भयमिइ ताइं गंथो देहस्स य सावयाईहिं॥ २५६८॥
अह मोक्खसाहणमईए न भयहेऊ वि ताणि ते गंथो।
वत्थाइ मोक्खसाहणमईए सुद्धं कहं गंथो?॥ २५६९॥
सारक्खणाणुबंधो रोद्दज्झाणं ति ते मई हुज्जा।
तुल्लमियं देहाइसु पसत्थमिह तं तहेहावि॥ २५७०॥
जे जत्तिया पगारा लोए भयहेअवो अविरयाणं।
ते चेव य विरयाणं पसत्थभावाण मोक्खाय॥ २५७१॥ विशेषावश्यकभाष्य।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

करने से मुनि परीषहसहन का अवसर खो देता है, फलस्वरूप संवर के मार्ग से च्युत हो जाता है और कर्मों की निर्जरा नहीं कर पाता। इस तरह वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी है और निर्जराविरोधी होना संयमविरोधी होने का प्रमाण है।

बारह तपों में कायक्लेश को बाह्य तप बतलाया गया है, जो निर्जरा का कारण है। पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं—"ठंड, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश कहलाता है।" (त.सू./वि.स./९/१९-२०)। ठंड, गरमी के द्वारा शरीर को कष्ट देना निर्वस्त्र रहने पर ही संभव है, जैसा कि आचारांग में कहा गया है। वस्त्रधारण करने से कायक्लेश नामक तप असंभव हो जाता है, जिससे साधक निर्जरा से वंचित हो जाता है। इस तरह भी वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी अत एव संयमविरोधी है।

दशधर्मों में संयमधर्म का उपदेश है। उसका पालन पाँच इन्द्रियों के निग्रह से होता है। स्पर्शन इन्द्रिय का निग्रह तब होता है, जब शीतादिजन्य पीड़ा हो रही हो और वस्त्रादि का परिभोग न कर उसे धैर्यपूर्वक सहा जाय। स्थानांगसूत्र में भी कहा गया है कि वस्त्रत्याग से विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है।[७३] वस्त्रपरिभोग करने से स्पर्शन इन्द्रिय का निग्रह नहीं हो पाता, प्रत्युत उसके विषय का सेवन हो जाता है, जिससे कर्मों का संवर न होकर आस्रव-बन्ध होता है। इस रीति से भी वस्त्रपरिभोग संयम-विरोधी है।

९

मोक्षबाधक होने से ही तीर्थंकरों द्वारा वस्त्रत्याग

बोटिककथा में आर्यकृष्ण के द्वारा वस्त्रपात्रादि को संयम का उपकारी (साधक) सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ शिवभूति की ओर से प्रश्न उठाया गया है कि यदि वस्त्रपात्रादि संयम के उपकारी हैं, तो तीर्थंकरों ने उन्हें ग्रहण क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं—

"तीर्थंकर अनुपम धृति और अनुपम संहनन के धारी, छद्मावस्था में चतुर्ज्ञानी, अतिशयसत्त्वसम्पन्न, अच्छिद्रपाणि और जितसमस्तपरीषह होते हैं, अतः वस्त्रपात्ररहित होने पर भी उन्हें संयमविराधनादि दोष नहीं लगते। फलस्वरूप उनके लिए वस्त्रपात्रादि संयम के साधक नहीं है। इस कारण वे वस्त्रपात्रादि ग्रहण नहीं करते।" (विशे.भा./गा.२५८१-८३)।

---

७३. "पंचहि ठाणेहि अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा—अप्पापडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इंदिय-निग्गहे।" स्थानांगसूत्र / ५ / ३ / ३४७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पर, विचारणीय प्रश्न यह नहीं है कि तीर्थंकर वस्त्र क्यों ग्रहण नहीं करते? वस्त्र तो वे बाल्यकाल से ग्रहण किये ही रहते हैं। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि वे प्रव्रज्या के समय वस्त्रों का त्याग क्यों करते हैं? वस्त्रपात्रादि के अभाव में उन्हें संयमविराधनादि दोष नहीं लगते यह ठीक है, पर वस्त्रपात्रादि के सद्भाव में क्या बाधा उत्पन्न होती है, जिससे वे वस्त्र त्याग कर देते हैं? यद्यपि श्वेताम्बरशास्त्रों में यह कहा गया है कि तीर्थंकरों का शरीर वस्त्रों के समान ही उनके प्रभामण्डल से आच्छादित हो जाता है तथा उन्हें शीतादिपरीषहों की पीड़ा नहीं होती, इसलिए अनावश्यक होने के कारण वे वस्त्रधारण नहीं करते।[७४] किन्तु प्रश्न यह है कि जब वे बाल्यकाल से लेकर प्रव्रज्या के पूर्व तक वस्त्रधारण करते हैं और उन्हें लोगों को यह उपदेश देना भी आवश्यक होता है कि मोक्षमार्ग सवस्त्र ही है, जिसके लिए उन्हें देवेन्द्रोपनीत देवदूष्य बायें कन्धे पर डालना पड़ता है, तब वे अपने पूर्वगृहीत स्वाभाविक वस्त्रों का परित्याग क्यों करते हैं? उनके द्वारा तो सवस्त्र मोक्षमार्ग का उपदेश और भी स्वाभाविक एवं प्रभावशाली बन सकता है। इस प्रश्न का समाधान न तो जिनभद्रगणी जी ने किया है, न किसी श्वेताम्बर-ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ है।

तीर्थंकर तो उपर्युक्त गुणों से युक्त होते हैं, चार ज्ञानों के धारी होते हैं, उनका कोई कार्य अयुक्तिसंगत या निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिए यही सिद्ध होता है कि वस्त्रपात्रादि-परिग्रह संयम या मोक्ष में बाधक है, इसीलिए तीर्थंकर उसका त्याग करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने **सुत्तपाहुड** में भी कहा है—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ २३॥

अनुवाद—"जिनशासन में कहा गया है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होता, भले ही वह तीर्थंकर हो। नग्नत्व ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब संसार के मार्ग हैं।"

वस्त्रग्रहण मोक्ष में बाधक क्यों है? उसका उत्तर आचारांग में दिया गया है। उसमें बतलाया गया है कि वस्त्रादि के परिग्रह से अपध्यान होता है, परीषहजय संभव नहीं होता और तप का अभ्यास असम्भव हो जाता है। तथा स्थानांगसूत्र में वस्त्रत्याग

---

७४. "जिनेन्द्रा अपि गृहस्थावस्थायां बालभावे तदतिक्रमे च यथोचितं वस्त्रालङ्कारविभूषिता एव भवन्ति, प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यवसरे तु देवेन्द्रोपनीतदेवदूष्यवस्त्रं सवस्त्रपात्रो धर्मो मया प्रज्ञापनीय इति वामस्कन्धोपरि धरन्ति।--- किं च जिनेन्द्राणां गुह्यप्रदेशो वस्त्रेणेव शुभप्रभामण्डलेनाच्छादितो न चर्मचक्षुषां दृग्गोचरीभवति।--- ते हि भगवन्तो --- स्वप्रभामण्डलाच्छादितदेहाः--- जितपरिषहा---।" प्रवचनपरीक्षा/वृत्ति/१/२/३१/पृ.९२-९३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के पाँच लाभ बतलाये गये हैं—१. प्रतिलेखना अल्प होती है, २.लाघव प्रशस्त होता है, ३. साधु विश्वसनीय बनता है, ४. तप अनुज्ञात (जिनानुमत) होता है और ५.विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है। वस्तुतः इन कारणों से तीर्थंकर वस्त्र त्याग करते हैं। (देखिये, प्रथम प्रकरण का शीर्षक ७)।

१०

साधारण पुरुषों के लिए भी वस्त्रपात्रादि मोक्ष में बाधक

कर्मसिद्धान्त पक्षपातरहित

श्वेताम्बरशास्त्रों में यह व्यवस्था बतलायी गयी है कि मोक्षयोग्य काल में जो प्रथमसंहननधारी पुरुष होते हैं, वे अचेल जिनकल्प धारण करने के योग्य होते हैं और जो दुर्बल संहननधारी होने से परीषह सहने में असमर्थ हैं अथवा जिन्हें नग्न रहने में लज्जा आती है अथवा पुरुषांग के विकृत होने से लोकनिन्दा का भय होता है, उनमें केवल स्थविरकल्प के ग्रहण की योग्यता होती है। दोनों कल्प मोक्ष के साधक हैं, तथापि मोक्ष के अयोग्य, किन्तु व्रतधारण के योग्य काल में केवल सचेल स्थविरकल्प ही धारण किया जा सकता है, क्योंकि उस समय सभी पुरुष हीनसंहननधारी होते हैं। इस व्यवस्था का उल्लेख निम्नलिखित उद्धरणों में द्रष्टव्य है—

"जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षतस्त्वसम्पूर्णानि दशपूर्वाणि श्रुतं भवति। प्रथमसंहननो वज्रकुड्यसमानावष्टम्भश्चायं भवति। स्वरूपेण पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, संहृतस्त्वकर्मभूमिष्वपि भवति। उत्सर्पिण्यां व्रतस्थस्तृतीयचतुर्थारकयोरेव, जन्ममात्रेण तु द्वितीयारकेऽपि, अवसर्पिण्यां तु जन्मना तृतीयचतुर्थारकयोरेव, व्रतस्थस्तु पञ्चमारकेऽपि, संहरणेन तु सर्वस्मिन्नपि काले प्राप्यते।" (अभि.रा.को./भा.४/पृ. २३८९)।

"क्षेत्रद्वारे जन्मतः, सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु भरतैरावतविदेहपञ्चकलक्षणासु भवन्ति। संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमीनां, त्रिंशतामकर्मभूमीनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः। अद्धाकालः तमङ्गीकृत्यावसर्पिण्यां जन्मतः, सद्भावतश्च त्रिषु तृतीयचतुर्थपञ्चमारकेषु भवेयुः। --- उत्सर्पिण्यां जन्मतस्त्रिषु द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु आरकेषु सद्भावतस्तु द्वयोस्तृतीय-चतुर्थारकयोर्भवन्ति।" (अभि.रा.को./ भा. ४/ पृ. २३९१)।

"मनःपर्यायज्ञानं, परमावधि --- जिनकल्पः --- एते पदार्थाः जम्बूस्वामिनि व्युच्छिन्नाः जम्बूस्वामिनं यावत् प्रवृत्ताः ---। अस्ति च --- स्थविरकल्पः, कीदृशः? तीर्थप्रवृत्तिहेतुः, सर्वेष्वपि तीर्थेषु अच्छिन्नप्रवृत्तिहेतवः स्थविरकल्पिका एव साधवो

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भवन्ति, तेषामेव धर्मोपदेश-प्रव्रज्यादानादावधिकारः, न पुनर्जिनकल्पिका अपि, तेषां धर्मोपदेशदानादावनधिकारात्।'' (प्रव.परी./ वृत्ति / १ / २ / १५ / पृ.७९-८०)।

''**त्रिभिः कारणैर्वस्त्रं धरेत् इति सूत्रेऽपि विहितं प्रतिपादितं यतो यस्मात्, तेनैव प्रकारेण तद्वस्त्रं निरतिशयत्वेन तथाविधधृतिसंहननादिरहितेन साधुनावश्यं धरणीयमिति। कुतः? इत्याह—यतो यस्माद् निरतिशयत्वेन जिनकल्पायोग्यानां साधूनां ह्री-कुत्सा-परीषहलक्षणं वस्त्रधरणकारणं पूर्वाभिहितस्वरूपमवश्यमेव सम्भवति, ततो धरणीयमेव वस्त्रम्।**'' (हेम. वृत्ति / विशे.भा. / गा. २६०२-३)।

इन शास्त्रवचनों से श्वेताम्बरपरम्परा की निम्नलिखित मान्यताएँ सामने आती हैं—१. स्थविरकल्प की प्रवृत्ति जिनकल्प के साथ मोक्षयोग्य काल में भी होती है, क्योंकि उस काल में भी अनेक पुरुष जिनकल्प के योग्य नहीं होते अर्थात् उनमें प्रथमसंहनन और नवपूर्ववेदित्व का अभाव होता है। २. **मोक्षयोग्यकाल में स्थविरकल्पिक साधु प्रथमसंहनन और नवपूर्ववेदित्व के अभाव में भी मुक्त हो जाते हैं।**

उक्त शास्त्रवाक्यों से श्वेताम्बरों की यह मान्यता भी प्रकट होती है कि प्रथमसंहननधारी साधुओं को वस्त्रपात्रादिपरिग्रह त्यागने और परीषहपीड़ा सहने पर मोक्ष होता है तथा हीनसंहननधारी मुनियों को वस्त्रपात्रादि-परिग्रह का उपभोग करने और परीषहपीड़ा से बचकर देहसुख भोगने पर मुक्ति मिलती है।

ये मान्यताएँ तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। उसमें तो प्रथमसंहननधारी के अतिरिक्त अन्यसंहननधारी को मोक्ष के योग्य ही नहीं माना गया है, क्योंकि उसमें मोक्ष के लिए शुक्लध्यान और शुक्लध्यान के लिए प्रथमसंहनन एवं पूर्ववित्त्व अनिवार्य बतलाये गये हैं—''**आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवतः।**'' (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / ९ / ३९)। ये दोनों योग्यताएँ स्थविरकल्पिकों में नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र में प्रथमसंहनन और अन्य संहनन के आधार पर अलग-अलग मोक्षमार्गों का प्रतिपादन नहीं है। जैसे उसमें यह उपदेश नहीं है कि प्रथमसंहननवालों को कर्मों का संवर और निर्जरा करने के लिए परीषहों को सहना चाहिए तथा अन्य संहननवालों को इसी कार्य की सिद्धि के लिए परीषहों से बचना चाहिए। उसमें तो सभी के लिए ''**मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः**'' (९/८), यह एक ही उपदेश है। अर्थात् चाहे कोई प्रथमसंहननधारी हो या अन्यसंहननधारी संवर और निर्जरा के लिए उसे परीषह सहना अनिवार्य है।

परीषहों से बचने की इच्छा देहसुख की इच्छा है (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक १) और इच्छा राग है। श्वेताम्बरग्रन्थ **प्रशमरति-प्रकरण** में भी इच्छा को राग का पर्यायवचन कहा गया है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि॥ १८॥

यदि हीनसंहननवाले का देहसुखराग संवर और निर्जरा का कारण है, तो राग नियमतः आस्रव-बन्ध का हेतु है, यह सिद्ध नहीं होता और अराग की जगह राग संवर-निर्जरा का कारण सिद्ध हो जाता है। इससे जिनेन्द्रदेव का उपदेश ही उलट जाता है। वे वीतरागतीर्थ के उपदेशक न होकर रागतीर्थ के उपदेशक बन जाते हैं। इस विसंगति का प्रसंग आने से सिद्ध है कि सवस्त्र स्थविरकल्प से मोक्ष होने की मान्यता जिनेन्द्रदेव के उपदेश के विरुद्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्मबन्ध की प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए **समयसार** में कहा है—

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहि वायामं॥ २३७॥

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं॥ २४०॥

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहास चिट्ठासु।
रायाइ उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण॥ २४१॥

अनुवाद—"जैसे कोई पुरुष शरीर में तेल लगाकर धूलभरे स्थान में मुद्गर आदि शस्त्रों से व्यायाम करता है, तो उसके शरीर पर जो धूल चिपक जाती है, उसका कारण उसके शरीर पर तेल से उत्पन्न हुआ चिकनापन है, वैसे ही बहुविध प्रवृत्तियों में लिप्त मिथ्यादृष्टि जीव उपयोग में जो रागादि करता है, उसके कारण उसकी आत्मा से कर्मरूपी धूल संश्लिष्ट होती है।"

श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति ने भी **प्रशमरतिप्रकरण** में कुन्दकुन्द के इसी कथन को निम्नलिखित कारिका में दुहराया है—

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं॥ ५५॥

इस प्रकार राग कर्मबन्ध का कारण है और उसका अभाव मोक्ष का। यह कर्मसिद्धान्त (जीव के साथ कर्मों के बन्ध और मोक्ष की कार्यकारणव्यवस्था) अत्यन्त वैज्ञानिक है। जैसे भौतिकविज्ञान के नियम निरपवाद होते हैं अर्थात् निर्धारित परिस्थितियों में उनका परिणाम सभी देशों एवं सभी कालों में एक जैसा होता है, वैसे ही कर्मसिद्धान्त भी निरपवाद है। उसके परिणाम भी नियत परिस्थितियों में सदा और सर्वत्र समान

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

होते हैं। वह किसी के साथ पक्षपात या रियायत नहीं करता। जीव के भावों और कर्मपुद्गलों के आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरारूप परिणामों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिसके भी मन में वस्त्रपात्रादि परद्रव्यों को पाने की इच्छा अर्थात् राग उत्पन्न होगा उसके साथ कर्मपुद्गलों का आकर संश्लिष्ट होना अनिवार्य है और जिसके मन से राग विसर्जित हो जायेगा, उससे पुद्गलकर्मों का विश्लिष्ट होना नियत है। जड़ पुद्गलकर्मों में यह विचार करने की शक्ति नहीं होती कि यह जीव उत्तमसंहननवाला है, इसलिए इसे अपने बन्धन में बाँध लूँ , और यह जीव हीनसंहननवाला है, इसलिए इसे माफ कर दूँ।

तत्त्वार्थसूत्र में उत्तमसंहननवालों और हीनसंहननवालों के लिए अथवा तीर्थंकरों और साधारण पुरुषों के लिए बन्ध और मोक्ष की अलग-अलग व्यवस्थाएँ नहीं हैं। उसमें जीवमात्र के लिए एक ही व्यवस्था है। जैसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को सभी जीवों के लिए ऐकान्तिकरूप से बन्ध का कारण बतलाया गया है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र को निरपवादरूप से मोक्ष का। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग सभी जीवों की दृष्टि से आस्रव के हेतु कहे गये हैं और सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप सभी जीवों की अपेक्षा संवर और निर्जरा के हेतु। संवर एवं निर्जरा के इन हेतुओं में किसी अपवाद का विधान नहीं है। वस्त्रपात्रादि के परिग्रह से सभी के परिणाम याचना, मूर्च्छा, रागद्वेष, भय, संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान तथा देहसुख की लालसा से विकृत हो जाते हैं तथा सभी को वह परीषहजय एवं तप में असमर्थ बना देता है। अतः उत्तमसंहननधारी और हीनसंहननधारी तथा तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध करनेवाले और न करनेवाले, दोनों प्रकार के साधकों के लिए मोक्षमार्ग एक ही प्रकार का है। फलस्वरूप यदि वस्त्रपात्रादि का परिग्रह तीर्थंकरों एवं अन्य प्रथम संहननधारियों (जिनकल्पिकों) के लिए मोक्ष में बाधक है, तो हीनसंहननधारियों (स्थविरकल्पिकों) के लिए भी उसका मोक्ष में बाधक होना अनिवार्य है।

११

लौकिक वैद्य और आध्यात्मिक वैद्य में समानता नहीं

विशेषावश्यकभाष्य में साधारण पुरुषों के लिए जिनकल्प का निषेध करने हेतु वैद्य का दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है कि जैसे वैद्य के द्वारा उपदिष्ट औषधि के सेवन से ही रोगी का रोग दूर होता है, वैद्य की वेशभूषा के अनुकरण से नहीं, वैसे ही तीर्थंकरों के उपदेश का अनुसरण करने से ही साधारणपुरुष कर्मरोग से मुक्त होते हैं, तीर्थंकरों के नग्नवेश का अनुकरण करने से नहीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यहाँ लौकिक वैद्य का दृष्टान्त आध्यात्मिक वैद्य से मेल नहीं खाता। लौकिक वैद्य की वेशभूषा किसी रोग की औषधि नहीं है, किन्तु तीर्थंकररूप आध्यात्मिक वैद्य का नग्नवेश कर्मरूप आध्यात्मिक रोग की औषधि है। उस औषधि से तीर्थंकरों ने स्वयं अपना कर्मरोग विनष्ट किया था, अतः अपना रोग विनष्ट करने के बाद जब वे आध्यात्मिक वैद्य बने, तब उसी कर्मरोग से ग्रस्त अन्य जीवों को उन्होंने उसी नाग्न्यलिंगरूप औषधि के सेवन का उपदेश दिया। इसके अलावा वे और कोई औषधि बतला ही नहीं सकते थे, क्योंकि उस रोग की और कोई औषधि है ही नहीं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा गया है तथा शीतादि परीषहों के साथ नाग्न्यपरीषह के जय का उपदेश दिया गया है।

शिवभूति को नाग्न्यलिंग ग्रहण करने का निषेध करते हुए आर्यकृष्ण कहते हैं कि जिनकल्प तुम जैसे रथ्यापुरुषों (साधारण आदमियों) के लिए नहीं हैं।[७५] मैं इसके साथ यह वाक्य जोड़ना चाहता हूँ कि "**इसीलिए मोक्ष भी रथ्यापुरुषों के लिए नहीं है।**"

१२
सवस्त्रमुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्रता केवल क्लेश का कारण

अचेल जिनकल्प और सचेल स्थविरकल्प इन परस्पर विरुद्ध दो मोक्षमार्गों की मान्यता को जन्म देनेवाले आचार्यों ने यह विचार नहीं किया कि इससे जिनेन्द्रदेव का उपदेश कितना अयुक्तियुक्त हो जायेगा! जब वस्त्रधारण करते हुए भी मोक्ष हो सकता है, तब नग्न रहकर शीत, उष्ण, दंशमशक आदि के घोर कष्ट उत्पन्न करनेवाले जिनकल्प का उपदेश देना कहाँ तक युक्तियुक्त कहा जा सकता है? निरर्थक कष्ट उठाने का उपदेश क्या तीर्थंकर जैसे परमविवेकशील सर्वज्ञ आत्मा के अनुरूप कहा जा सकता है? यह एक मनोवैज्ञानिक नियम है कि मनुष्य किसी भी कार्य को करने के लिए सदा ऐसा रास्ता ढूँढ़ता है, जिसमें कम से कम कष्ट हो। जब सरल मार्ग से कार्य सिद्ध हो सकता है, तब कोई कठिन मार्ग क्यों अपनायेगा? निरर्थक कष्ट उठानेवाला मनुष्य विवेकशील नहीं कहा जा सकता। कहावत भी है—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥

अनुवाद—"यदि मार्ग के मदार (आक) वृक्ष में ही मधु मिल जाय, तो कोई

---

७५. "न रथ्यापुरुषकल्पानां भवादृशां जिनकल्पस्तीर्थकरैरनुज्ञात इति।" हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५९२।

पर्वत पर क्यों जायेगा? इच्छित वस्तु यदि बिना प्रयत्न के ही मिल जाय, तो प्रयत्न करने की मूर्खता कौन समझदार आदमी करेगा?''

दिगम्बराचार्य पात्रकेसरी ने कितनी युक्तिसंगत बात कही है—

जिनवर ! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥ ४१॥

पात्रकेसरीस्तोत्र।

अनुवाद—''हे जिनवर! वस्त्रधारण करना और भिक्षा के लिए पात्र ग्रहण करना, आपके मत में मान्य नहीं है। ये बातें तो अशक्त लोगों ने सुख का कारण समझकर स्वयं ही कल्पित कर ली हैं। यदि वस्त्रपात्र ग्रहण करना भी आपके मत में मोक्षमार्ग होता, तो नग्नता व्यर्थ हो जाती, क्योंकि जब फल को हाथ से ही तोड़ना सम्भव हो, तब वृक्ष पर कौन चढ़ेगा?''

श्वेताम्बरग्रन्थ **प्रवचनपरीक्षा** के कर्त्ता उपाध्याय धर्मसागर जी बोटिक शिवभूति द्वारा स्त्रीमुक्ति का निषेध किये जाने का कारण बतलाते हुए लिखते हैं कि वह जिनकल्प को ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग मानता था, अतः उसने नग्नत्व स्वीकार कर लिया, किन्तु अपनी बहिन उत्तरा को नग्न रहने से मना कर दिया, क्योंकि स्त्रियों का नग्न रहना अच्छा नहीं लगता। उसने स्त्रियों के वस्त्रावृत रहने को ही उचित बतलाया। अब यदि वह सवस्त्र स्त्रियों की मुक्ति का प्रतिपादन करता, तो मुक्ति की दृष्टि से सवस्त्र और निर्वस्त्र में कोई भेद न रहता, तब उसका स्वयं का नग्न रहना केवल कष्ट का ही कारण सिद्ध होता। अतः उसने स्त्रीमुक्ति का निषेध कर दिया।''[७६]

इस प्रकार श्वेताम्बर मनीषियों ने भी माना है कि सवस्त्रता से मुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्र रहना मात्र एक अर्थहीन कष्टकारक कार्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब वस्त्रधारी साधारण स्त्रीपुरुष भी मुक्त हो सकते हैं, तब तीर्थंकरों एवं जिनकल्पिकों के लिए वस्त्रत्याग आवश्यक मानना युक्तिसंगत नहीं है। यह युक्तिसंगत तभी हो सकता है, जब वस्त्रधारण करने से तीर्थंकरों एवं जिनकल्पिकों की मुक्ति संभव न हो। और इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि तीर्थंकर और जिनकल्पिक साधारण पुरुषों से इतने गये-बीते (हीन) नहीं हैं, कि जिसमार्ग से साधारण स्त्रीपुरुषों की मुक्ति हो सकती हो, उससे तीर्थंकरों और जिनकल्पिकों की मुक्ति न हो। अतः इस बात

---

७६. प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / पातनिका / १ / २ / १९ / पृ.८२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में कोई सन्देह नहीं है कि वस्त्रधारण करते हुए यदि साधारण स्त्रीपुरुष मुक्त हो सकते हैं, तो तीर्थंकर और जिनकल्पिक भी हो सकते हैं।

फिर भी तीर्थंकरों ने सवस्त्रमार्ग ग्रहण नहीं किया। उन्होंने वस्त्रादि का परित्याग कर नग्नत्व को अंगीकार किया और मुक्त्यर्थियों को भी अचेलमार्ग का ही उपदेश दिया, जैसा कि उत्तराध्ययन और पञ्चाशक की पूर्वोद्धृत गाथाओं से विदित होता है। इससे स्पष्ट है कि तीर्थंकर सवस्त्रमुक्ति संभव नहीं मानते थे, इसके विपरीत वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को संयम, ध्यान आदि में बाधक होने से मोक्ष में बाधक मानते थे। और यह बात तो साधारणबुद्धि में भी आ सकती है कि जब वस्त्रपात्रादि-परिग्रह तीर्थंकरों के लिए मोक्ष में बाधक हो सकता है, तब उन जैसी योग्यता न रखनेवाले साधारण स्त्रीपुरुषों के लिए तो और भी अधिक बाधक होगा। यदि वस्त्रादिपरिग्रह मोक्षसाधक होता, तो तीर्थंकर उसे ही अंगीकार करते, क्योंकि श्वेताम्बराचार्यों के अनुसार तीर्थंकरों को यह उपदेश भी देना आवश्यक होता है कि मोक्षमार्ग सवस्त्र ही है, निर्वस्त्र नहीं, जिसके लिए उन्हें एक देवदूष्य कन्धे पर रखकर प्रव्रजित होना पड़ता है। पर तीर्थंकरों ने वस्त्रपात्रादि ग्रहण नहीं किये, बल्कि जो वस्त्रादि बाल्यकाल से धारण करते आ रहे थे, उनका परित्याग कर दिया और नग्न हो गये। इससे सिद्ध है कि स्थविरकल्प (सचेलधर्म) के मोक्षमार्ग होने का उपदेश तीर्थंकरों ने नहीं दिया, अपितु वह आगे चलकर कुछ देहसुखाकांक्षी लोगों के द्वारा कल्पित किया गया है।

इससे यह निर्णय आसानी से हो जाता है कि वस्त्रपात्रादि-परिग्रह मोक्ष का साधक नहीं है, अपितु मोक्ष में बाधक है, अतः वह ग्रन्थ ही है, अग्रन्थ नहीं। अत एव श्वेताम्बराचार्यों का यह कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है कि 'वस्त्रपात्रादि संयम और लज्जा के साधन होने से परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा होना परिग्रह है अथवा वे संयम के साधन हैं, अत एव ग्रन्थ नहीं हैं, अग्रन्थ ही हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शय्यंभव (४५२ ई० पू०) से लेकर जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण (७वीं शती ई०) तक सभी आचार्यों ने अपने नवीन मत को पुष्ट करने के लिए दिगम्बरजैन-सिद्धान्तों का खण्डन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरमत उनके समय में प्रचलित था, अतः वह उन आचार्यों से पूर्ववर्ती है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in